विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन,
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

वर्ष : २८ अंक ४

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्टूबर–नवम्बर–दिसम्बर

• १९९० •

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सह–सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) १००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

विवेक-ज्योति के व्यापक प्रचार में सहयोग हेतु

अनुरोध

प्रिय बन्धु,

युगावतार श्रीरामकृष्ण तथा आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इसके फलस्वरूप पिछली एक शताब्दी के दौरान भारतीय जन-जीवन की प्रत्येक विधा में एक नवजीवन का संचार हुआ दीख पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द—ऐसी कालजयी विभूतियों का जीवन एवं कार्य अल्प-कालिक होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से चिरस्थायी होता है और सहस्त्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की श्रद्धा एवं प्रेरणा का स्रोत बनकर विश्व का असीम कल्याण साधित करता है। सम्भवतः आपका ध्यान इस तथ्य की ओर गया हो कि इन दो विभूतियों से निःश्रित भावधारा दिन पर दिन व्यापक से व्यापकतर होती चली जा रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दु संस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के निमित्त स्वामीजी के जन्म शताब्दी वर्ष १९६३ ई. में इस त्रैमासिक को प्रारम्भ किया गया था। तब से २८ वर्ष की सुदीर्घ अवधि तक अबाध गति से प्रज्ज्वलित रहकर इस 'ज्योति' ने भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्त्रों प्रेमियों के अन्तर को उद्भासित किया है। अगले वर्ष से यह अपनी आयु के २९ वें वर्ष में पदार्पण करने जा रही है।

क्या आप भी इसके प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहायक होकर इसे घर-घर पहुँचाने में हमारा हाथ नहीं बटाएँगे? आपसे हम हार्दिक अनुरोध करते हैं कि कम से कम पाँच नये सज्जनों को 'विवेक-ज्योति' के परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें।

इसका वार्षिक शुल्क अत्यल्प—लागत से भी कम—मात्र १० रुपये है। अपने मित्रों, परिचितों तथा सम्बन्धियों से अगले वर्ष के लिए इसका वार्षिक शुल्क उनके पतों के साथ हमें भेज दें।

दूसरी बात यह है कि बीस वर्षों से भी पहले जब हमने आजीवन सदस्य बनाने की योजना प्रारम्भ की थी, तभी से अब तक इसकी निर्धारित राशि मात्र १०० रु. ही बनी रही; परन्तु इस दौरान कागज, मुद्रण तथा डाक की दरों में ३-४ गुनी वृद्धि हो चुकी है, अतः १ जनवरी १९९१ ई. से आजीवन ग्राहकता शुल्क २०० रु. निर्धारित किया गया है।

पता— व्यवस्थापक

विवेक-ज्योति कार्यालय

पो. विवेकानन्द आश्रम, रायपुर-492001 (म.प्र.)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(९१ वीं तालिका)

३२७२. श्री जे. आर. केसरी, जगदलपुर, बस्तर
३२७३. श्री एस. एस. भट्ट, लोरमी, बिलासपुर
३२७४. श्री एस. आर. पाल, गंज लाइन, राजनादगाव
३२७५. श्री बी. एस. सुमन, नारायणपुर, बस्तर
३२७६. डा. जगन्नाथ गुल्हाणे, नारायणपुर, बस्तर
३२७७. श्री अनिलकुमार कापरे, नारायणपुर, बस्तर
३२७८. श्री राकेशकुमार चन्द्राकर, नारायणपुर, बस्तर
३२७९. श्री विजेन्द्रकुमार वर्मा, नारायणपुर, बस्तर
३२८०. श्री रमेशचन्द्र पण्डा, नारायणपुर, बस्तर
३२८१. श्री एन. के. गदाधरन, नारायणपुर, बस्तर
३२८२. डा. डी. के. बिल्लोरे, धार
३२८३. श्री शिवकुमार सारस्वत, रायपुर

अनुक्रमणिका

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर–४५२ ००९ (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २८]　　अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर　　[अंक ४
★ १९९० ★

सत्पुरुषों के लक्षण

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
　　विद्यानां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद् भयम् ।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
　　एते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ॥

सज्जनों का संग करने की कामना, दूसरों के गुणों में आनन्द, गुरुजनों के प्रति विनम्रा, विद्याभ्यास की लत, अपनी पत्नी से अनुराग, लोकनिन्दा का भय, शिव में भक्ति आत्मसंयम का बल, दुष्ट संग से विरति— ये निर्मल गुण जिन मनुष्यों में निवास करते हैं, उन्हें हमारा प्रणाम है ।

—भर्तृहरिकृत 'नीतिशतकम्', ५१

अग्नि-मंत्र

(कुमारी मेरी हेल्बॉयस्टर को लिखित)

द्वारा कुमारी नोबल
२१ ए, हाई स्ट्रीट, विम्बल्डन,
(?) अगस्त १८९९

प्रिय मेरी,

मैं फिर लन्दन में हूँ। इस बार कोई व्यस्तता नहीं, किसी चीज के लिए उतावलापन नहीं, एक कोने में शान्तिपूर्वक बैठ गया हूँ—अवसर मिलते ही अमेरिका प्रस्थान करने की प्रतीक्षा में हूँ। मेरे प्रायः सभी मित्र लन्दन से बाहर—ग्रामों या अन्य स्थानों में हैं, एवं मेरा स्वास्थ्य भी पर्याप्त रूप से ठीक नहीं है।

हाँ, तो तुम कनाडा के अपने निर्जन झीलों एवं उपवनों के बीच सुखपूर्वक हो। यह जानकर मैं खुश हूँ, बहुत खुश कि तुम पुनः अपने उत्कर्ष की चोटी पर हो। तुम सदा वहीं बनी रहो।

तुम अब तक 'राजयोग' का अनुवाद समाप्त नहीं कर सकी—ठीक है, कोई जल्दी नहीं है। तुम जानती हो कि अगर इसे पूरा होना है, तो समय एवं अवसर अवश्य आयेगा, अन्यथा हम व्यर्थ ही प्रयत्न करते हैं।

अपने संक्षिप्त पर प्रबल ग्रीष्म में कनाडा आजकल अवश्य ही सुन्दर और स्वास्थ्यप्रद हो रहा होगा।

कुछ सप्ताह में मैं न्यूयार्क पहुँचने की आशा करता हूँ और इसके आगे क्या होगा मुझे मालूम नहीं। अगले वसन्त में मैं फिर इंग्लैण्ड आने की आशा करता हूँ।

मेरी उत्कट अभिलाषा है कि कभी कोई दुःख किसी के भी पास न फटके, लेकिन वही एक ऐसी चीज है, जो

हमें अपने जीवन की गहराइयों में अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। क्यों ऐसा ही है न ?

अन्तर्वेदना के क्षणों में सदा के लिए जकड़े द्वार खुलते और प्रकाश के अनेक प्रवाह अन्दर प्रवेश करते से प्रतीत होते हैं।

अवस्था बढ़ने के साथ-साथ हम सीखते चलते हैं। पर खेद ! हम अपने ज्ञान का उपयोग यहाँ नहीं कर पाते। जिस क्षण लगता है कि हम सीख रहे हैं, उसी क्षण रंगमच से शीघ्रतापूर्वक हटा लिए जाते हैं। और यही माया है।

यदि हम ज्ञानी खिलाड़ी हों, तो इस खिलौने संसार की कोई सत्ता न रह जाएगी, यह खेल चलेगा ही नहीं। आँखों में पट्टी बाँधे हमें खेलना होगा। इस नाटक में हममें से किसी किसी ने खलनायक की भूमिका ली है और किसी किसी ने नायक की, पर चिन्ता न करो, यह सब एक नाटक है। यही एकमात्र सान्त्वना है। रंगमंच पर क्या नहीं है—वहाँ दैत्य हैं, सिंह हैं, चीते हैं, लेकिन उन सबका मुँह बँधा है। वे उछलते हैं, पर काट नहीं सकते। संसार हमारी आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकता है। टुकड़े-टुकड़े और लहू-लुहान शरीर में भी यदि तुम चाहो तो अपने मन में महत्तम शान्ति का आनन्द ले सकती हो।

और आशाहीनता की प्राप्ति ही इसका मार्ग है। क्या तुम इसे जानती हो ? यह नैराश्य का मूढ़ दृष्टिकोण नहीं है, अपितु यह तो एक विजेता की उन वस्तुओं के प्रति अवज्ञा है जिनके लिए उसने संघर्ष किया है और जिन्हें प्राप्त कर फिर अपने महत्व की तुलना में उन्हें नगण्य

समझ कर ठुकरा दिया है। यह आशाहीनता, इच्छा-हीनता, उद्देश्यहीनता ही प्रकृति के साथ सामंजस्य है। प्रकृति में कोई सामंजस्य नहीं, कोई युक्ति नहीं, कोई क्रम नहीं; उसमें पहले भी अस्तव्यस्तता थी और अब भी है।

निम्नतम मनुष्य अपने पार्थिव मन के द्वारा और उच्चतम मानव भी अपने पूर्ण ज्ञान के द्वारा प्रकृति के साथ समंजित है। उद्देश्यहीन, स्वच्छन्द और आशारहित —तीनों ही सुखी हैं।

तुम एक गप्पी पत्र की आशा करती हो; है न? गप्पों के लिए मेरे पास अधिक सामग्री नहीं है। अन्तिम दो दिन श्री स्टर्डी आये थे। कल वे वेल्स–अपने घर जा रहे हैं।

दो एक दिन में मुझे न्यूयार्क-यात्रा के लिए टिकट लेना है। यहाँ लन्दन में मेरे जो पुराने मित्र हैं, उनमें कुमारी साउटर एवं मैक्स गिसिक के सिवा अब तक और किसी से मैं नहीं मिला हूँ। वे सदा की भाँति बड़े ही सहृदय रहे।

अब तक लन्दन के विषय में मुझे कुछ भी मालूम नहीं, अतः तुम्हें देने को मेरे पास कोई समाचार नहीं है। मुझे पता नहीं कि गरट्रूड आर्चर्ड कहाँ है, अन्यथा मैंने उसे लिखा होता। कुमारी काटे स्टील भी बाहर गयी हुई हैं। वे बृहस्पति या शनिवार को आने वाली हैं।

मुझे पेरिस में ठहरने के लिए एक मित्र का निमन्त्रण मिला है। वे एक अच्छे सुशिक्षित फ्रान्सीसी सज्जन हैं, लेकिन इस बार मैं जा नहीं सका। आशा करता हूँ, फिर

कभी कुछ दिन के लिए मैं उनके साथ रह सकूँगा। मैं अपने कुछ पुराने मित्रों से मिलने एवं उनसे नमस्कार करने की आशा करता हूँ। अमेरिका में तुमसे निश्चित रूप से मिलने की आशा है। या तो अपने पर्यटन के दौरान मैं अप्रत्याशित रूप से ओटावा आ पहुचूँगा या फिर तुम्हीं न्यूयार्क आ जाना।

अलविदा, सौभाग्य तुम्हारे साथ हो।

प्रभु में सदा तुम्हारा,

विवेकानन्द

○

परस्पर विवाद करना तथा आपस में निन्दा करना हमारा जातीय स्वभाव है। ईर्ष्या ही हमारे दाससुलभ राष्ट्रीय चरित्र का धब्बा है।

'सिरदार तो सरदार' हम सब लोग धोखा देकर नेता होना चाहते हैं, इसी से कुछ होता नहीं, कोई मानता नहीं।

भारत में जिस एक चीज का हममें अभाव है, वह है, वह है मेल तथा संगठन-शक्ति का और उसे प्राप्त करने का प्रधान उपाय है आज्ञापालन।

संगठन और मेल ही पाश्चात्य देशवासियों की सफलता का रहस्य है।

मनसा वाचा कर्मणा यदि ऐक्य हो तो मुट्ठी भर लोग दुनिया को उलट दे सकते हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

मौन की महत्ता

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के 'चिन्तन' कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिख थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं और काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर हम उन्हें क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर के सौजन्य से गृहीत हुआ है। —स.)

हममें से प्रत्येक ने जीवन में कभी न कभी मौन के लाभकारी प्रभाव का अनुभव अवश्य किया होगा। एक अत्यन्त व्यस्त व्यक्ति भी अपनी चर्या में नियमित अवकाश का स्थान रखता है। मौन जीवन का एक अत्यन्त आवश्यक उपादान प्रतीत होता है। जब हम किसी निर्जन स्थली अथवा झील के किनारे या उपवन में घूमते होते हैं अथवा पर्वत के शिखर पर पहुँच कर प्रकृति के रूप-माधुर्य का पान करते होते हैं, तो हम वास्तव में अनजाने ही मौन की खोज में होते हैं और उसका उपभोग करते हैं, पर हमें हर समय मौन की इस महत्ता का भान नहीं होता। जीवन में मन बहलाव के ऐसे अवसर भले ही बहुत कम प्राप्त होते हैं, पर जब कभी वे मिलते हैं तो हम उस प्रभाव को नहीं भूल सकते जो प्रकृति के साथ तादात्म्य हमारे चरित्र पर डालता है। फिर, कभी जब हम मध्य रात्रि में उठ जाते हैं, जिस समय चारों ओर एक गहरी निस्तब्धता छाई होती है, उस समय हमें एक अभिनव अनुभूति होती है। ऐसा लगता है कि रात्रि का गहरा मौन भाव मानो हमारे अन्तर में घुसा जा रहा है। हाँ, यह भी सम्भव है कि

मौन कभी भयावह भी हो जाय। कई लोग शब्द का नितान्त अभाव नहीं सह सकते। किन्तु इन अपवादों को यदि हम छोड़ दें, तो हममें से अधिकांश लोग बीच-बीच में प्रकृति के स्पर्श से अथवा घर में ही प्राप्त होने वाले मौन का स्वागत करते हैं और उससे लाभान्वित होते हैं। कभी-कभी जब हम अकेले होते हैं और जब सब कुछ शान्त होता है, तो हमें एक प्रकार की स्फूर्ति प्राप्त होती है और हमारे स्नायुओं को ताजगी मिलती है। हमारी खोई हुई शक्ति लौट आती है। कुल मिलाकर प्रभाव यह होता है कि हमारे तन और मन दोनों प्रफुल्ल हो जाते हैं।

फिर, सुषुप्ति भी जीवन में मौन की आवश्यकता को सिद्ध करती है। हम दिन भर कितने ही व्यस्त क्यों न हों, रात्रि में उस घड़ी की चाह रखते हैं जब हमारे विचार और भावनाएँ, इच्छाएँ और आशाएँ, चिन्ताएँ और जिम्मेदारियाँ—सब कुछ पीछे छूट जाता है। वह गहरी नींद है क्या? क्या वह मौन का ही अवसर नहीं है। यद्यपि हम उस अवस्था में सभी कुछ पीछे छोड़ जाते हैं, यहाँ तक कि शरीर का बोध भी छूट जाता है, तथापि उसमें हम आनन्द प्राप्त करते हैं। वास्तव में निन्दा कोई शून्यता नहीं है। निद्रा के रहस्य को जानने के लिए न तो हमारे पास समय होता है और न रुचि ही। हम उस अवस्था में आराम और शान्ति पाते हैं—बस यही हमारे लिए पर्याप्त होता है। किन्तु उपनिषद् इस अवस्था के सम्बन्ध में बड़ा प्रकाश डालते हैं। उपनिषदों के अनुसार, सुषुप्ति मानव-चेतना को विश्व-चेतना की भूमि के सन्निकट ले जाती है। यह विश्व-चेतना असीम

शान्ति की अवस्था है। यही कारण है कि हम नींद से जागने पर इतना तरोताजा अनुभव करते हैं।

मौन का मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन में भी बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। महात्मा गाँधी मौन के महत्व को स्वीकार करते थे। सन्त विनोबा भावे ने तो मौन को अपने जीवन का एक अंग ही बना लिया था। मौन की महत्ता के आधार पर ही इसकी परिभाषा मुनि के आचरण से दी गई है। यदि हम मौन के आध्यात्मिक महत्व की बात को छोड़ दें तो भी हमारे भौतिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए मौन परमावश्यक है। मौन का प्रारम्भिक अभ्यास यह है कि हम कुछ समय के लिए चुपचाप बैठ जाएँ और मन में किसी गम्भीर विचार या क्रियाशीलता को न पैठने दें। इस प्रकार भले ही वह दस मिनट के लिए क्यों न हो, यदि हम अपने आप में स्थित रहें तो वह हमारे शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी 'टानिक' का काम करता है। इस अभ्यास से हमारी चिन्ताएँ और मन की चंचलता भी कम होती है। मौन की आश्चर्यजनक शक्ति ब्राह्म मुहूर्त में अनुभव की जा सकती है। उस समय सब कुछ निस्तब्ध रहता है। रात्रि के गाम्भीर्य को यदि हम अपने हृदय में अनुभव करने का प्रयत्न करें तो इससे आश्चर्य-जनक रूप से मन का तनाव दूर होगा।

○

श्री वल्लभाचार्य और वैष्णव धर्म

प्रव्राजिका श्यामाप्राणा

(श्री सारदा मठ, दक्षिणेश्वर, कलकत्ता-७०००७६)

जीवन के लक्ष्य को निर्धारित करने और धर्म के मर्म को समझने के कार्य में हजारों लोग मर मिटे हैं। इस खोज में कितनों ने संन्यास लिया, सन्त बने, त्यागी, पण्डित और आचार्य हुए। दिशा सबको एक थी—'ईश्वर लाभ या आत्मोपलब्धि।' अब प्रश्न यह है कि धर्म के माने क्या है ? इसका उत्तर स्वामी विवेकानन्दजी ने सहज भाषा दे दिया है, "जिसके द्वारा व्यक्ति और समष्टि की उन्नति हो, जो सबके लिए कल्याणप्रद हो, वही धर्म है, शेष सभी अधर्म हैं।" उनका दूसरा उत्तर है, "जो हमारे शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन को शक्ति प्रदान करता है, वही सच्चा धर्म है। धर्म ही हमारे देश का मेरुदण्ड है। केवल आचार-व्यवहार को धर्म नहीं कहा जा सकता।"

वैष्णव धर्म आन्दोलन के प्रवर्तक

आचार्य वल्लभ का जन्म १४०१ ई. में हुआ। गोदावरी तटवासी सुप्रसिद्ध तेलुगु ब्राह्मण पण्डित उनके पूर्वज थे, जो कंकरवाड़ा ग्राम में निवास करते थे। उनके पिता का नाम था कम्भपाटि लक्ष्मण भोटल और उनकी माता का कम्भपाटि एल्लम्मगारु। दोनों ही परम भक्त, धार्मिक एवं निष्ठावान् साधक थे।

जब वल्लभाचार्य के माता-पिता काशी यात्रा को जा रहे थे उसी समय उनका जन्म मार्ग में मध्यप्रदेश में रायपुर के समीप चम्पारण्य नामक स्थान में हुआ। वल्लभ के जन्म के बाद वे लोग काशी पहुँच

कर नहीं बस गए। बालक की शिक्षा-दीक्षा वाराणसी में ही हुई। पाँच वर्ष की आयु में उसका उपनयन हुआ और उसके साथ ही वेदशास्त्रों की शिक्षा प्रारम्भ कर दी गयी। वल्लभ ने हिन्दी एवं संस्कृत भाषाओं में अपार पाण्डित्य प्राप्त किया। वे निर्भीक थे और साथ ही कुशाग्रबुद्धि से सम्पन्न थे. बचपन से ही उनमें शास्त्रों की भलीभाँति व्याख्या करने की क्षमता थी। यह धुरन्धर बालक दस वर्ष की आयु में ही शास्त्रार्थ में बड़े-बड़े नामी पण्डितों को भी परास्त कर दिया करता था। ग्यारह वर्ष की आयु में उनके पिता चल बसे।

बड़े होकर उन्होंने पण्डितों से शास्त्रार्थ करने हेतु सम्पूर्ण भारत का दौरा किया। ऐसी ही एक यात्रा के दौरान उन्हें विजयनगर राज्य की पण्डित-सभा में शास्त्रार्थ के लिए निमन्त्रण मिला। वैष्णव धर्म का पक्ष लेकर उन्होंने अपनी विद्वत्ता से प्रतिवादियों के तर्कों का जिस प्रकार खण्डन किया, उसका विजयनगर सम्राट् पर गहरा असर पड़ा। सम्राट् ने वल्लभ का स्वर्णाभिषेक कर उन्हें सर्वोपरि सम्मान प्रदान किया। इसी विजयनगर में उन्हें आचार्य की पदवी मिली उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी और उनके बहुत से शिष्य बन गये।

देशाटन और विजय-यात्रा

वल्लभाचार्य ने विजयनगर से यात्रा करते हुए कन्याकुमारी, पण्ढरपुर, नासिक, त्र्यम्बकेश्वर, नर्मदा तट, ओंकारनाथ, महिष्मती, उज्जयनी, सिद्धवट, जोधपुर, दतिया, ग्वालियर आदि तीर्थों के दर्शन किये। उन्हें सभी स्थानों पर सम्मान मिला। तीर्थयात्रा के पश्चात् मथुरा होते हुए वे गोकुल पधारे। गोकुल में उन्हें भक्तिमार्ग

को पुष्ट करने की भगवान् की आज्ञा मिली। स्वप्न में श्री भगवान् ने उन्हें स्वयं मन्त्रोपदेश दिया, जिसके द्वारा जीवों का ब्रह्म के साथ सीधा सम्बन्ध जुड़ जाता है। यहाँ पर कुछ भक्त उनकी शरण में आये। गोकुल में रहते हुए वल्लभाचार्य धर्म-साधना एवं शास्त्र-प्रणयन में लगे रहे। कुछ समय पश्चात् वे फिर परिव्राजक होकर तीर्थ-पर्यटन के लिए निकल पड़े। उन्होंने पहले व्रजमण्डल की परिक्रमा की। इस परिक्रमा में व्रजभूमि के सभी तीर्थों के दर्शन किये। तत्पश्चात् भक्तिमार्ग का प्रचार करने के लिए वे दक्षिण की ओर अग्रसर हुए। गुजरात, काठियावाड़ (सौराष्ट्र) और पश्चिम में सिन्ध प्रदेश के अनेक बड़े नगरों में जाकर उन्होंने पण्डितों से शास्त्रार्थ किया और भक्तिमार्ग का जोरों से प्रतिपादन किया।

सम्पूर्ण दक्षिण की यात्रा समाप्त करके आचार्य ने उत्तर और पूर्व के तीर्थों की यात्रा की। उत्तराखण्ड के तीर्थ कुरुक्षेत्र, ऋषिकेश, टिहरी, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ आदि के दर्शन करते हुए वे हरिद्वार आये। उसके बाद नैमिषारण्य आदि तीर्थों के दर्शन करते हुए उन्होंने जगन्नाथजी के दर्शन के किए प्रस्थान किया। जगन्नाथ क्षेत्र से फिर दक्षिणी प्रदेशों की यात्रा समाप्त कर वे पण्ढरपुर में श्री विट्ठलजी के दर्शन करने को आये। इस भ्रमण के दौरान वे दण्ड, मेखला, जटा, कृष्णाजिन आदि धारण करते थे और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए ब्रह्मचारी वेश में ही रहा करते थे।

विवाह का प्रस्ताव

इस वार जब वे पण्ढरपुर में श्री पाण्डुरंग के दर्शनों को आये, तो उन्हें विवाह कर लेने का आदेश मिला।

उन्होंने उसे स्वीकार किया। तदुपरान्त पण्ढरपुर से गुजरात और काठियावाड़ प्रदेशों में वैष्णव भक्तिमार्ग का उपदेश और प्रचार करते हुए वे अनेक शिष्यों के साथ पुष्कर तीर्थ पहुँचे। वहाँ से वे व्रजभूमि में पधारे। इस बार गोवर्धन में उन्हें श्री गोपाल का दर्शन प्राप्त हुआ। वहाँ वे श्री गोपालजी की पूजा-सेवा में लग गये। बाद में श्री माधवेन्द्रपुरी को गोवर्धनजी की पूजा-सेवा का भार सौंप वे एक बार फिर देश-भ्रमण के लिए निकल पड़े। व्रजमण्डल से उत्तराखण्ड के तीर्थों का दर्शन और धर्म-प्रचार करते हुए वे पुरी में श्री जगन्नाथ के दर्शन को पहुँचे। तत्पश्चात् वे काशी में आकर ठहर गये।

विवाह

काशी में श्री पाण्डुरंग के आदेशानुसार उन्होंने अपने सजातीय श्रीदेव भट्ट नाम के तेलुगु ब्राह्मण पण्डित की सर्वगुणसम्पन्ना कन्या लक्ष्मी देवी के साथ विवाह किया। इस कन्या ने बाद में दो पुत्रों को जन्म दिया। कुछ समय काशी में निवास करने के बाद आचार्य फिर देश-भ्रमण के लिए चल दिये। तीसरी बार गुजरात और काठियावाड़ होते हुए उत्तराखण्ड में केदारनाथ, बद्री-नारायण के दर्शन कर वे पुनः गोकुल पधारे। गोकुल से यमुनाजी के किनारे-किनारे आगरा होते हुए वे प्रयाग पहुँचे और संगम के उस पार यमुनाजी के तट पर अरैल नामक ग्राम में रहकर अनेक ग्रन्थों की रचना की। कुछ समय बाद वे काशी लौट आये।

सूरदासजी के साथ भेंट

गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथजी मन्दिर बन जाने के बाद एक बार वल्लभाचार्यजी गऊघाट पर उतरे। वहाँ

सूरदासजी उनसे मिलने आये और अपना रचित एक पद उन्हें गाकर सुनाया। आचार्य ने प्रसन्न होकर उन्हें अपना शिष्य बना लिया और भागवत की कथाओं को गेय पदों में रचने का आदेश दिया। सूरदासजी की सच्ची भक्ति एवं पदविन्यास के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर आचार्य ने उन्हें अपने श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन-सेवा का भार सौंप दिया। इस मन्दिर का निर्माण आचार्यजी के शिष्य पूरणमल (खत्री) ने गोवर्धन पर्वत पर संवत् १५७६ में किया था।

चैतन्यदेव के दर्शन के लिए प्रयाग जाना

जब आचार्यजी अरैल में निवास कर रहे थे, उसी समय श्री गौरांग महाप्रभु भी प्रयाग में आए हुए थे। चैतन्यदेव के भक्ति-भाव की प्रशंसा सुनकर वल्लभाचार्य कुछ शिष्यों के साथ स्वयं उनसे मिलने गये और वहाँ जाकर श्री चैतन्य महाप्रभु के चरणों में प्रणाम किया। दोनों में परस्पर प्रेमालाप हुआ। आचार्य ने महाप्रभु को शिष्यों सहित अपने निवास (अरैल) पर पधारने का निमन्त्रण दिया। महाप्रभु ने यह निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार किया और आचार्य के साथ यमुना-पार अरैल के लिए निकल पड़े। अरैल के ग्रामवासियों ने अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति के साथ महाप्रभु का स्वागत किया। आचार्य ने महाप्रभु एवं शिष्यों को बड़े प्रेम से अपने निवास पर लाकर भोजन कराया।

संन्यास व्रत

कुछ समय पश्चात् आचार्य काशी लौट आये। वहाँ उन्होंने संसार को त्यागकर संन्यास ग्रहण किया और

इस प्रकार त्याग के अति उच्च आदर्श को अपने जीवन में स्थापित किया। उन्होंने अपने आदर्श के द्वारा निवृत्ति मार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग के रूप में पुष्ट किया।

यह आचार्यजी की संक्षिप्त जीवनी हुई। अब हम उनके दार्शनिक सिद्धान्त, उनकी रचनाओं तथा उनके वैष्णव धर्म के प्रचार-कार्य पर चर्चा करेंगे।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय

आचार्य वल्लभ ने रामानुज, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामिन् आदि सम्प्रदाय-प्रवर्तकों से प्रेरणा पाकर वैष्णव धर्म को अपनाया। इनका सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत कहलाता है। इनकी आराधना पद्धति को पुष्टिमार्ग कहते हैं।

पुष्टिमार्ग

वल्लभाचार्य ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद की माया को अस्वीकार कर ईश्वर के अस्तित्व और सान्निध्य को ही सत्य माना। उन्होंने रामानुजाचार्य के आत्मोत्सर्ग की चेष्टा में मनुष्य की सहज शक्तियों का ह्रास और निस्सहायता देखी। हृदय की अनुभूति द्वारा उन्हें प्राप्त करने हेतु आराधना को साधना बनाकर ईश्वर के अस्तित्व एवं सान्निध्य पर अपने विश्वास को पुष्ट किया। वास्तव में वैष्णव धर्म का यह रूप, जिसे वल्लभाचार्य ने प्रस्तुत किया है, सर्वग्राह्य, सर्वमान्य और सर्वसुलभ है।

दक्षिण के बहुत से वैष्णव सम्प्रदायों से वल्लभाचार्य प्रभावित हुए होंगे। उनका अनुसरण करते हुए उन्होंने अपने प्रतिष्ठित मन्दिरों में पूजा-आराधना-सेवा प्रचलित की। दक्षिण भारत के वैष्णव सम्प्रदायों की भक्ति में जो वात्सल्य-भाव एवं दास्य-भाव थे, वे सूरदास के

पदों में पूर्णतया अभिव्यक्त दिखाई पड़ते हैं। हिन्दी साहित्य का मध्ययुग सर्वाधिक ज्योतिर्मय माना जाता है और इसके निर्माता वल्लभाचार्य हैं। वल्लभ सम्प्रदाय तथा उसके अष्टछाप कवियों की देन हिन्दी साहित्य के इतिहास में अद्वितीय है। वल्लभाचार्य ने अपने भक्ति-सम्प्रदाय की ओर उत्तम कवियों को आकृष्ट कर केवल हिन्दी साहित्य में नहीं, वरन् उत्तर भारत, राजस्थान, गुजरात और काठियावाड़ आदि प्रदेशों में भी अपने प्रभाव का विस्तार किया। आज भी इन प्रदेशों में उनके सम्प्रदाय के लाखों अनुयायी हैं। वल्लभाचार्य तथा उनके वंशजों द्वारा स्थापित मन्दिरों तथा बैठकों से असंख्य भक्त अपने हृदय में शान्ति एवं आनन्द का लाभ उठा रहे हैं।

दार्शनिक सिद्धान्त

विक्रम सम्वत् १५वीं एवं १६वीं शताब्दी में वैष्णवधर्म के आन्दोलन के प्रवर्तकों में वल्लभाचार्य प्रधान थे। यह आन्दोलन देश के एक छोर से शुरू होकर अल्प समय में ही दूसरे छोर तक फैल गया था। रामानुज से लेकर वल्लभ तक जितने भक्त, दार्शनिक या आचार्य हुए, सभी का लक्ष्य शंकराचार्य के मायावाद और विवर्तवाद से छुटकारा पाना था, जिसके अनुसार भक्ति भी अविद्या या भ्रान्ति ही ठहरती थी। शंकराचार्य ने केवल निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की थी। वल्लभ ने ब्रह्म में ही सब धर्म माने। सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिए ब्रह्म की आत्मकृति कहा। अपने को अंश रूप में जीवों में बिखराना ब्रह्म की लीलामात्र है। "अक्षर ब्रह्म अपने आविर्भाव एवं

तिरोभाव की अचिन्त्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और इसके परे भी रहता है। वह अपने सत् चित् आनन्द तीनों स्वरूपों का आविर्भाव एवं तिरोभाव करता रहता है। जड़ में केवल सत् का आविर्भाव रहता है और चित् एवं आनन्द दोनों का तिरोभाव। इसी कारण माया कोई वस्तु नहीं है।"

उनके मतानुसार—"श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, जो सब गुणों से सम्पन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आनन्द का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरुषोत्तम रूप में रहता है, अतः वही श्रेष्ठ रूप है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की सब लीलाएँ नित्य हैं। वे अपने भक्तों के लिए 'व्यापी वैकुण्ठ' (जो विष्णु के वैकुण्ठ से ऊपर है) में अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। गोलोक इसी व्यापी वैकुण्ठ का एक खण्ड है, जहाँ नित्यरूप में यमुना, वृन्दावन, निकुंज इत्यादि सभी कुछ हैं। भगवान् की इस 'नित्य लीला सृष्टि' में प्रवेश पाना ही जीव की सबसे उत्तम गति है।"

शंकराचार्य ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक या असली रूप कहा और सगुण को व्यावहारिक या मायिक रूप। वल्लभाचार्य ने इसे उलटकर सगुण रूप को असली पारमार्थिक रूप बताया और निर्गुण को ब्रह्म का अंशतः तिरोहित रूप कहा। उन्होंने प्रेममिश्रित भक्ति को स्वीकार किया।

श्री वल्लभाचार्य प्रवर्तित पुष्टिमार्ग

प्रेम-साधना में वल्लभाचार्य ने लोक-मर्यादा एवं वेद-मर्यादा दोनों का त्याग वैध ठहराया। इस प्रेममिश्रित भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति तभी होती है, जब

भगवान् का अनुग्रह होता है। इसी को पोषण या पुष्टि कहते हैं। इसी से वल्लभ ने अपने मार्ग का नाम 'पुष्टि-मार्ग' रखा।

उन्होंने तीन प्रकार के जीव माने हैं—(१) 'पुष्ट जीव', जो भगवान् के अनुग्रह पर ही निर्भर रहते हैं और नित्य लीला में प्रवेश पाते हैं,(२) 'मर्यादा जीव' जो वेद की विधियों का अनुसरण करते हैं और स्वर्गलोक आदि को प्राप्त होते हैं (३) 'प्रवाह जीव', जो संसार के प्रवाह में पड़े सासारिक सुखों की प्राप्ति में ही लगे रहते हैं।

वल्लभ का समय तथा पुष्टिमार्ग की प्रयोजनीयता

ईसा की १४वीं सदी के पूर्वार्ध में देशभर मुस्लिम राज्य सुदृढ हो चुका था। हिन्दुओं का एकमात्र स्वतन्त्र और प्रभावशाली राज्य दक्षिण में विजयनगर रह गया था, परन्तु बहमनी सुलतानों के पड़ोस में होने के कारण इस राज्य के दिन भी थोड़े ही दीख पड़ते थे। इसलामी संस्कार धीरे-धीरे जमते जा रहे थे। सूफी पीरों द्वारा सूफी-पद्धति की प्रेम-भक्ति का प्रचार कार्य धूमधाम से बढ़ रहा था। दूसरी ओर 'निर्गुण पन्थ' के सन्तगण वैदिक विधियों से जनता की आस्था हटाने में जुटे हुए हुए थे। ऐसे दुष्कर समय में वल्लभ को सामान्य मनुष्य के लिए वेद-मार्ग या मर्यादा-मार्ग का अनुसरण अत्यन्त कठिन दिखाई पड़ा। यही कारण था कि वल्लभाचार्य ने देश-काल को भलीभाँति समझते हुए अपने पुष्टिमार्ग का गठन किया।

वल्लभाचार्य रचित ग्रन्थ

१. 'पूर्वमीमांसा भाष्य',
२. 'उत्तर मीमांसा भाष्य' या 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' जो 'अणु भाष्य' के नाम से विख्यात है॥

उनके शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादक यही प्रधान दार्शनिक ग्रन्थ है.

३. श्रीमद्भागवत की सूक्ष्म टीका एवं सुबोधिनी टीका,

४. तत्त्वदीप निबन्ध,

५. सोलह छोटे-छोटे प्रकरण ग्रन्थ ।

उपसंहार

यद्यपि भागवत धर्म का प्रचार महाभारत काल में ही हो चुका था और अवतारों की धारणा देश में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी, पर वैष्णव धर्म के साम्प्रदायिक स्वरूप का गठन दक्षिण भारत में हुआ । वैदिक परम्परा के अनुकरण पर अनेक संहिताएँ, उपनिषद्, सूत्र आदि ग्रन्थ तैयार हुए । श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने से भक्ति-मार्ग में गोपियों के जैसा प्रेम मधुर भाव को प्रकट करने में सहायक बना । इसी के साथ सूरदास के पदों के द्वारा वात्सल्य और दास्यभाव का भी प्रचार हुआ । वल्लभाचार्यजी ने समय की आवश्यकता को देखते हुए वैष्णव धर्म का प्रचार करते हुए पतनोमुख भारतीय सभ्यता को पुनः प्रगति की ओर उन्मुख किया । खोयी हुई आध्यात्मिक शक्ति का संचार करके उन्होंने मानव हृदय को शान्ति और आनन्द से पूर्ण कर दिया । व्यष्टि और समष्टि की सर्वांगीण उन्नति के लिए अथक प्रयास करते हुए उन्होंने अपने जीवन को 'बहुजन सुखाय बहुजन हिताय' खपा दिया ।

०

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

बत्तीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुडगाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशन किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स.)

बलराम के घर में भक्तों के संग

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में मास्टर महाशय बलराम मन्दिर में ठाकुर के बार-बार आगमन का कारण बतलाते हैं। बाग बाजार में इस घर के आस पास अनेक भक्त, विशेषकर गृही भक्तगण रहते हैं। वहाँ उन लोगों से मुलाकात हो जाती है। ठाकुर सबसे कहते हैं, "बलराम के यहाँ श्री जगन्नाथजी की सेवा होती है, उनका अन्न बड़ा शुद्ध है।" उनके घर का अन्न ग्रहण करने में ठाकुर को आपत्ति नहीं है। फिर भी असल बात यह है कि वहाँ निकट रहने वाले भक्तों को बुला लिया जाता था, इसलिए उन्हें बलराम मन्दिर के प्रति लगाव था। ठाकुर के पास जो लोग आते थे उनसे तो ठाकुर की भेंट हो ही जाती थी; पर जो लोग नहीं आ पाते थे, वे भी नहीं छूटते थे।,ठाकुर स्वयं जाकर उनसे भेंट करते थे।

बलराम मन्दिर में यह जो भक्त मिलन होता था, इसीलिए ठाकुर को इस घर से इतना प्रेम था। श्रीयुत गिरीशचन्द्र घोष आदि अनेक विशिष्ट भक्तों से उनका प्रथम साक्षात्कार यहीं हुआ। रथयात्रा के समय यहाँ कई बार कीर्तनानन्द हुआ, कितने ही बार प्रेम के दरबार में आनन्द मेला लगा। ठाकुर कहते, "जाओ नरेन्द्र, भवनाथ राखाल को निमन्त्रण दे आओ। इन लोगों को खिलाना, नारायण को खिलाने के समान है। ये लोग सामान्य नहीं, ईश्वर के अंश से जन्मे हैं। इन्हें खिलाने से तुम्हारा बहुत भला होगा।" ठाकुर का वास्तविक उद्देश्य होता था इन लोगों को अपने पास खींच लेना।

मास्टर महाशय का प्रसंग उठा। वे पास ही विद्यासागर महाशय के स्कूल में पढ़ाते थे। उनके स्कूल में जो अच्छे लड़के रहते, जिनमें शुभ संस्कार होता, उनके कल्याण के लिए वे उन्हें ठाकुर के पास ले आते। इस कार्य को वे मानो बड़ी निष्ठापूर्वक करते थे। सामान्य लोग इस बात को पसन्द नहीं करते थे। वे लोग यह कहकर मास्टर को बदनाम कर रहे थे कि वे लड़कों को बिगाड़ रहे हैं। लड़के सांसारिक उन्नति के प्रति ध्यान न देकर, भगवान भगवान करके समय नष्ट कर रहे हैं। यह बड़ा बुरा हो रहा है।

ज्ञान साधना तथा गुरु सेवा

आज बलराम मन्दिर में आकर मास्टर महाशय ने देखा कि तरुण भक्तगण ठाकुर को घेरकर बैठे हैं। वयस्क भक्त भी आये हुए हैं। इनमें जो स्कूल-कालेज जाते हैं, वे शायद स्कूल छोड़कर ठाकुर के पास आये हैं। मास्टर को देखकर ठाकुर ने पूछा, "स्कूल नहीं है?"

उत्तर में मास्टर महाशय ने बताया कि स्कूल में अभी कोई खास काम नहीं है, इसलिए वे आ गये हैं। एक भक्त हँसी करते हुए बोले—"केवल लड़के ही स्कूल से भागते हैं, ऐसी बात नहीं, मास्टर भी स्कूल से भाग आये हैं।" मास्टर महाशय मन ही मन कहते हैं—"ओह, मानो कोई खींच लाया है।" ठाकुर यह सोचकर थोड़े चिन्तित हुए कि इससे कहीं कार्य की अवहेलना तो नहीं हो गयी, त्रुटि तो नहीं हो गयी? इसके बाद ठाकुर मास्टर महाशय से थोड़ी सेवा करने को कहते हैं। मास्टर महाशय सोचते हैं—मैं सेवा करना नहीं जानता, इसीलिए ठाकुर मुझे सेवा कराना सिखा रहे हैं। गीता में कहा है—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'—प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा के द्वारा ज्ञानलाभ करना पड़ता है। ठाकुर मानो इसीलिए मास्टर महाशय से सेवा लेकर उपदेश प्रदान करते हैं, यद्यपि उन उपदेशों का उल्लेख यहाँ पर नहीं है।

ठाकुर का ऐश्वर्य-त्याग

ठाकुर मास्टर महाशय को उस समय की अपनी एक विशेष अवस्था के बारे में बता रहे हैं। वे धातु-निर्मित किसी पात्र का स्पर्श नहीं कर सकते। शौच के लिए जाते समय भी लोटे को गमछे से लपेटकर पकड़ने के बाद भी तकलीफ होने लगी। वे कहते हैं—हाथ झनझन करने लगा। ठाकुर को ऐसा क्यों होता था, यह तो हम ठीक से समझ नहीं सकेंगे। डॉक्टर महेन्द्रलाल सरकार कहते—"मन के भीतर मानो एक संस्कार उत्पन्न हो गया है कि धातु का स्पर्श करना सहन नहीं होगा। यह मन के उस संस्कार का ही फल है।" धातु

का अर्थ सामान्यत: मुद्रा समझा जाता है। उपनिषद् में कहा गया है—'तस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न स्पृशेत्' —संन्यासी स्वर्ण का स्पर्श नहीं करेगा, अन्यथा आसक्ति उत्पन्न होगी। ठाकुर यह बात उपनिषद् पढ़कर नहीं कहते, मानो जगन्माता ही उनके द्वारा यह सब उपलब्धि करा रही हैं। उन्हें धातु स्पर्श नहीं करने देतीं। ठाकुर के इस भाव में हम उनके ऐश्वर्य-त्याग की पराकाष्ठा का परिचय पाते हैं।

नरेन और गिरीश

छोटे नरेन का प्रसंग उठाकर ठाकुर उसकी खूब प्रसंशा करते हुए कहते हैं—"वह यहाँ आता-जाता है, घर के लोग क्या कुछ कहेंगे?" कभी कभी ठाकुर के पास आने-जानेवालों को घर के लोग मना करते हैं। इसी बीच उपस्थित भक्तों में से किसी ने याद दिला दिया कि मास्टर महाशय को देरी हो रही है। मास्टर महाशय विदा लेकर स्कूल गए तथा छुट्टी होने के बाद प्रबल आकर्षण के कारण पुन: आ गये! आकर देखा कि ठाकुर भक्तों की मजलिस लगाये बैठे हुए हैं। मुख पर मधुर मुस्कान खेल रही है, जो भक्तों के मुखमण्डल पर भी प्रतिबिम्बित हो रही है। यह है आनन्द की संक्रामक शक्ति; वे स्वयं आनन्दमय हैं और वही आनन्द का प्रवाह आस-पास के भक्तों में भी स्फुरित हो रहा है। ठाकुर गिरीश से कहते हैं, "तुम एक बार नरेन्द्र से चर्चा करके देखो, वह क्या कहता है।" गिरीश बाबू अतिशय विश्वासी हैं। ठाकुर कहते हैं—गिरीश का विश्वास पाँच चवन्नी, पाँच आना है या कहते गिरीश का विश्वास पकड़ में नहीं आता। वे ही

गिरीश जब नरेन्द्र के साथ तर्क में लग जाते तो ठाकुर को खूब आनन्द आता। दोनों ही बुद्धिमान भक्त हैं; उनमें से एक स्वयं परखे बिना किसी बात पर विश्वास नहीं करते, और दूसरे थे दृढ़ विश्वासी। ऐसे विरुद्ध स्वभाव वाले होकर भी दोनों बड़े भक्त थे। यही ठाकुर की विशेषता है कि विभिन्न भाव वाले भक्तों को वे समान रूप से अपना मानते थे। जिसका जैसा भाव होता उसको उसी भाव में आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करते। मास्टर महाशय से तीन बार यह कहकर वचन ले लिया था, "बोलो, अब और तर्क नहीं करूँगा।" मास्टर महाशय ने कह दिया था कि अब वे तर्क नहीं करेंगे, लेकिन जिनका तार्किक स्वभाव है, उनको वे मना नहीं करते। नरेन्द्र को तर्क करने में उत्साहित करते हुए कहते, "जो भी कहूं, मेरी बातों को ठोक-बजा कर लेना। मैं कह रहा हूँ इसलिए न मान लेना।" इसलिए ठाकुर गिरीश बाबू को नरेन्द्र से बातचीत करने को कहते हैं, "नरेन्द्र कहता है, ईश्वर अनन्त हैं। जो कुछ हम लोग देखते या सुनते हैं—वस्तु या व्यक्ति—सब उनके अंश हैं—इतना भी हमें कहने का अधिकार नहीं है। Infinity (अनन्तता) जिसका स्वरूप है, उसका फिर अंश कैसे हो सकता है ? अंश नहीं होता।"

ईश्वर और अवतार

ठाकुर कहते हैं—"ईश्वर अनन्त हों अथवा कितने ही बडे हों, वे अगर चाहें तो उनके भीतर का सार पदार्थ आदमी के भीतर से प्रकट हो सकता है और होता भी है। वे अवतार लेते हैं, यह उपमा के द्वारा समझाया नहीं जा सकता। इसका अनुभव होना चाहिए।" अनन्त

के साथ किसी दूसरी वस्तु की उपमा नहीं दी जा सकती। एक अन्य अनन्त होगा तभी उपमा हो सकेगी। इसलिए वे अनुपम हैं।

वे अनन्त होकर भी किस तरह अवतरित होते हैं, यह हमारे समझ से परे की बात है। हम अपनी स्थूल दृष्टि से कहते हैं कि 'भगवान अवतीर्ण हुए हैं।' पुराण आदि में कहा गया है—'भगवान गोलोक से अवतीर्ण हुए हैं।' लेकिन जब वे अवतरित होकर आते हैं, उस समय क्या गोलोक का सिंहासन खाली रहता है ? यह कल्पनातीत है। पुराणों में कई स्थानों पर हम देखते हैं कि ब्रह्मा आकर कहते हैं, "भगवान अब लौट चलो, बहुत दिनों से गोलोक छोड़कर आए हो। हमलोग तुम्हारा अभाव महसूस कर रहे हैं।" अर्थात् पृथ्वी पर वे आये हैं इसलिए गोलोक में नहीं हैं। मानव बुद्धि के अनुसार पुराणों में यही कल्पना है। जब हम कलकत्ता से काशी या अन्यत्र कहीं चले जाते हैं, तब निश्चित रूप से कलकत्ता में नहीं रहते। भगवान के सम्बन्ध में भी हम ऐसी ही कल्पना करते हैं। वे जब पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं, तब स्वर्ग का सिंहासन अवश्य ही खाली पड़ा होगा। सीमित बुद्धि के द्वारा मनुष्य भगवान की ससीम रूप में कल्पना करता है। लेकिन जिनकी बुद्धि शुद्ध है, वे देखते हैं कि भगवान अनन्त हैं। गोलोक से जब वृन्दावन में अवतीर्ण हुए तब यदि गोलोक खाली हो जाय तो वे अनन्त कैसे होंगे ? तब तो भगवान गोलोक में सीमित हो गये। नरेन्द्र के मतानुसार भगवान अनन्त हैं—Infinite उनका अंश नहीं होता। उपनिषद् कहते हैं—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ (बृहदा. उप. ५/१/१)

——"जो कुछ हम देखते हैं, प्रत्यक्ष अर्थात् कार्य, वह पूर्ण है, तथा जो कुछ दूर है, अप्रत्यक्ष अर्थात् कारण वह भी पूर्ण है। पूर्ण कारण से पूर्ण कार्य का आविर्भाव होता है। पूर्ण में पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है।" आधुनिक अंकशास्त्र भी यही कहता है, जो अनन्त है, उसमें से अनन्त को निकाल देने पर भी अनन्त ही बचा रहता है, अनन्त का अंश नहीं होता। अंश क्यों नहीं होता? आकाश सर्वव्यापी है। क्या ऐसी कोई वस्तु है, जिसके द्वारा उसका विभाग किया जा सके? समुद्र के जल को एक घट में रखकर विभक्त किया जा सकता है। लेकिन समुद्र यदि आकाश के समान सर्वव्यापी हो, तो फिर उसे विभक्त नहीं किया जा सकता। वह सर्वत्र परिपूर्ण है, घर के भीतर बाहर सर्वत्र परिपूर्ण भाव से व्याप्त है। सीमित या परिच्छिन्न वस्तु का ही अंश होता है। इसलिए भगवान का अवतार उनका अंश होने पर उनमें कुछ कमी आ गई——यह अवास्तविक युक्तिहीन कल्पना है। इसीलिए कहते हैं, अंश नहीं होता, जो परिपूर्ण है उसका इस प्रकार विभाजन नहीं होता।

लेकिन ठाकुर कहते हैं——"अगर वे चाहें तो उनके भीतर का सार पदार्थ आदमी के भीतर से प्रकट हो सकता है और होता भी है।" 'हो सकता है'——केवल इतना कहने से यह मात्र एक सिद्धान्त की बात होती। ठाकुर जोर देकर कहते हैं——'होता भी है', क्योंकि यह उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति है। वे पूर्ण हैं तो किस प्रकार लघु होकर मनुष्य के रूप में आते हैं, यह कल्पना करना मनुष्य के

लिए सम्भव नहीं। यह उसकी बुद्धि के लिए अगम्य है। भागवत में देवकी की एक अद्भुत उक्ति है, "मैं देवकी एक क्षुद्रकाय नारी, मेरे गर्भ में अत्यन्त छोटे शिशु के रूप में वे आविर्भूत हुए हैं—यह कल्पनातीत है।" जो अनन्त हैं, वे किस तरह इतने छोटे हुए? ठाकुर कहते हैं—वे अनन्त हों अथवा कितने भी बड़े हों, इच्छा हो तो वे अवतरित होते हैं। यह कैसे सम्भव होता है, इसे समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि दूसरा कोई दृष्टान्त ही नहीं है, जिसके द्वारा यह समझाया जा सके।

दृष्टान्त नहीं है, पर यदि किसी को अनुभव होता है, तो उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अनुमान गौण है, अल्पशक्ति है, वह अनुभव पर निर्भर करता है। यदि कोई अनुभव के आधार पर कहे कि मैंने जान लिया है, मैंने स्पष्ट देखा है, यह मेरे लिए बुद्धिगम्य है, तब उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए कहते हैं, उपमा के द्वारा कुछ आभास मिलता है, लेकिन भगवान अनुपम हैं। उपमा तब सम्भव होती जब उनके समान एक और होते। भागवत में एक सुन्दर कहानी है—सुतपा ऋषि और पृश्नि भगवान को सन्तान के रूप में पाने के लिए तपस्या करते हैं। भगवान प्रकट होकर कहते हैं—वर माँगो। वे बोले, "हमें तुम्हारे ही समान एक सन्तान चाहिए।" भगवान बोले—"तथास्तु।" लेकिन तीनों लोक में खोजने पर भी भगवान को अपने ही समान कोई नहीं मिला, तब वे बोले—

अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्।
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः।।१०/३/४१

—"मैंने सर्वत्र खोज लिया, पर अपने समान उदार गुण वाला कोई और नहीं मिला। बाध्य होकर मैं स्वयं तुम्हारी सन्तान के रूप में जन्म ग्रहण करूँगा।" बड़ी कवित्वपूर्ण सुन्दर भाषा में यहाँ कहा गया है कि अपनी उपमा वे स्वयं हैं। इसलिए 'न तस्य प्रतिमास्ति'—यह भगवान जो अनन्त हैं, उनकी कोई प्रतिमा नहीं है, उनके अनुरूप कोई वस्तु नहीं है। यह शास्त्र का सिद्धान्त है। ठाकुर कहते हैं, "उपमा नहीं होती।"

गिरीश कहते हैं—वे अवतरित होकर आते हैं, उनके भीतर से लोक कल्याणकारी ईश्वरी शक्ति कर्म करती है। गाय के भीतर दूध है, लेकिन वह आता है थन से ही। वे सर्वव्यापी हैं तो भी उनकी लोक कल्याण-कारिणी शक्ति अवतार के माध्यम से प्रकाशित होती है, किस तरह प्रकाशित होती है ? प्रेम-भक्ति सिखाने के लिए वे समय-समय पर मनुष्य देह धारण कर अवतीर्ण होते हैं।

गिरीश के इस बात पर नरेन्द्र कहते हैं कि क्या उनकी सम्पूर्ण धारणा कभी हो सकती है ? वे अनन्त हैं नरेन्द्र तर्क में निपुण है, लेकिन उनकी युक्ति की भूल ठाकुर की दृष्टि की पकड़ में आ गयी। ठाकुर कहते हैं "ईश्वर की पूरी धारणा कर भी कौन सकता है ?" पूरी तरह से तो क्या, थोड़ी सी भी धारणा नहीं की जा सकती। जो अविभाज्य हैं, अखण्ड हैं; उनका स्वरूप पूरे में जैसा है, थोड़े में भी वैसा ही है। "न उनका कोई बड़ा अंश, न कोई छोटा अंश सम्पूर्ण धारणा में लाया जा सकता है; और सम्पूर्ण धारणा करने की जरूरत ही क्या है? उन्हें प्रत्यक्ष कर लेने ही से काम बन गया। उनके अवतार

को देखने ही से उन्हें देखना हो गया। अगर कोई गंगाजी के पास जाकर गंगाजल का स्पर्श करता है तो वह कहता है, मैं गंगाजी के दर्शन कर आया। उसे हरिद्वार से गंगा-सागर तक की गंगा का स्पर्श नहीं करना पड़ता।" वैसे ही अवतार भगवान की एक विशेष अभिव्यक्ति हैं। उनको देखने से ही भगवान को देखना हो गया। बाइबिल मे कहा गया है—He who has seen the son, has seen the father, जिसने सन्तान को देखा है उसने पिता को भी देख लिया है। यहाँ ईसा स्वयं को ईश्वर का पुत्र कहते हैं। वे कहते कि वे Son of the MAN–ईश्वर की सन्तान हैं। इस बात को समझाने के लिए 'MAN' बड़े अक्षरों में लिखा गया है। अग्नितत्व लकड़ी में अधिक है। सभी वस्तुएँ पंचभूतों के मेल से ही बनी हैं, अग्नि सर्वत्र है, पर लकड़ी में वह अधिक अभिव्यक्त है। इसलिए गिरीश कहते हैं, "जहाँ मुझे आग मिलेगी, मुझे उसी जगह से जरूरत है।" वे सर्वत्र हैं, लेकिन यदि अवतार के सान्निध्य में हमें उनका सान्निध्य मिले, तो फिर जो अनन्त है, उसकी क्या आवश्यकता है ? इस एक ही जगह पर सब कुछ प्राप्त हो गया।

अवतार शक्ति का प्रकाश

श्रीरामकृष्ण कहते हैं—"अगर तुम ईश्वर की खोज करते हो तो आदमी में खोजो।" बड़ी अद्भुत बात है, विचारणीय है। मनुष्य अपनी अनुभव शक्ति की सहायता से मनुष्य के रूप में उन्हें अधिक अच्छी तरह समझ सकता है। इसलिए कहते हैं—"आदमी में उनका प्रकाश अधिक होता है। जिस आदमी में ऊर्जिता भक्ति देखोगे–

देखोगे उसमें प्रेम और भक्ति, दोनों उमड़ रहे हैं—ईश्वर के लिए वह पागल हो रहा है—उनके प्रेम में मस्त घूमता है—उस मनुष्य में, निश्चयपूर्वक समझो कि वे अवतीर्ण हो चुके हैं।" जैसा कि गीता में कहा गया है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ (१०/४१)

भगवान कहते हैं—"सब वस्तुएँ मेरे ही तेज से उत्पन्न हुई हैं। जहाँ भी श्री, सौन्दर्य, शक्ति और ऐश्वर्य का प्रकाश दिखाई दे, वहाँ जानना कि मैं हूँ।" इसीलिए मनुष्य में भगवद्दानुभूति जितनी प्रबल है, उतनी अन्यत्र कहीं नहीं होती। ठाकुर एक अन्य स्थान पर कहते हैं, "मनुष्य को अधिक से अधिक भाव हो सकता है; महाभाव व प्रेम, अवतार को छोड़ अन्य को नहीं होता।" आगे और व्याख्या करते हैं कि कहीं उनकी शक्ति का प्रकाश अधिक है और कहीं कम। अवतारों में उनकी शक्ति का प्रकाश अधिक है। वही शक्ति कभी कभी पूर्ण भाव से रहती है। "अवतार शक्ति का ही होता है।" अवतार अर्थात् भगवान की शक्ति ही मानो आकार ग्रहण कर आविर्भूत हुई है उनके प्रकाश से यह जगत् प्रकाशित होता है— **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। अतः जैसे अवतार में, वैसे ही निर्बोध, अविकसित आत्मा के भीतर भी उन्हीं का प्रकाश है। कहीं अधिक तो कहीं कम। अवतारों में अधिक प्रकाश है क्योंकि वही शक्ति कभी-कभी पूर्ण भाव से रहती है।

ठाकुर जो कहते हैं, "अवतार शक्ति का ही होता है।" इस शब्द का हम कहीं गलत अर्थ न लगा लें।

शक्ति कोई विशेष देवी नहीं है । जिस शक्ति के प्रभाव से ईश्वर सृष्टि-स्थिति-लय करते हैं, वह शक्ति और वे अभिन्न हैं । जब वे सृष्टि-स्थिति-लय करते हैं तब उन्हें शक्ति कहते हैं, तथा उसी शक्ति के ही अवतार होकर वे लीला करते हैं । वे सृष्टि के माध्यम से ही अपने आपको व्यक्त करते हैं ।

वे शुद्ध मन के गोचर हैं

गिरीश बोले, "नरेन्द्र कहता है, वे 'अवांगमनस-गोचरम्' हैं ।" वाक्य मन के अगोचर हैं । उपनिषद् बार-बार कहते हैं—**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह** (तैत्तिरीय २/४/१)—जहाँ से मन के साथ वाणी उन्हें न पाकर लौट आती है । अर्थात् शब्द और वाणी के द्वारा हम उन्हें प्रमाणित नहीं कर सकते । मन के द्वारा भी उनकी धारणा नहीं कर सकते । मन उनका केवल एक क्षुद्र कार्य मात्र है, इसीलिए वे मन और वाणी के अगोचर हैं । नरेन्द्र की इस बात का प्रतिवाद करते हुए ठाकुर कहते हैं, "नहीं, इस मन के गोचर तो नहीं हैं, परन्तु वे शुद्ध मन के गोचर अवश्य हैं ।" ठाकुर का यह वाक्य, स्पष्ट रूप से उपनिषद् का ही वाक्य है—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। (केनो. १/५)

एक जगह कहते हैं, मन के द्वारा उनका चिन्तन नहीं हो सकता फिर अन्यत्र कहते हैं, **'मनसैवेदमाप्तव्यम्'**—उस वस्तु को मन के द्वारा ही प्राप्त करना होगा । दोनों बातें परस्पर-विरोधी हैं । ठाकुर ने इसका जो समाधान कर दिया है, वही शास्त्र का सिद्धान्त है । वे शुद्ध मन के

गोचर हैं। जिस मन से हमारा परिचय है, उस अशुद्ध मन के गोचर वे नहीं हैं। ठाकुर कहते हैं कि शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि और शुद्ध आत्मा सब एक ही है। मन का (और मन का ही क्यों, चाहे जिस वस्तु का भी) जब हम शोधन करते हैं तो उसके ऊपर आरोपित धर्म, आवरण इत्यादि को हटा देते हैं और तब जो कुछ बच जाता है वह स्वयं ईश्वर है। इसीलिए शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि और शुद्ध आत्मा एक ही हैं। जिन्होंने आत्मा को जाना है, वे आत्मा से अभिन्न हो गये हैं। अपने व्यक्तित्व की सीमा को पार कर असीमत्व को प्राप्त कर चुके हैं। उनका यह असीम रूप ही सत्य है। सीमित रूप जो हम देखते हैं, वह आरोपित है। द्रष्टा की भ्रान्त बुद्धि दूर होने पर, वे शुद्धस्वरूप में ही लौट जाते हैं। मन बुद्धि जब विचार करता है, तब आत्मशक्ति के प्रभाव से विचार करता है। लेकिन विश्लेषण के द्वारा उसका जो चैतन्य धर्म मिलता है—वही मन का शुद्ध स्वरूप है। अतः जो वाक्य मन के अगोचर हैं, वे ही शुद्ध मन के गोचर हो जाते हैं।

इसके बाद ठाकुर कहते हैं—"क्या ऋषि और मुनियों ने उनके दर्शन नहीं किये ? उन लोगों ने चैतन्य के द्वारा चैतन्य का साक्षात्कार किया।" यह चिन्तनीय बात है। उसे देखना या अनुभव करना किसी अन्य बाह्य साधन या यन्त्र द्वारा नहीं होता। आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों द्वारा हम वस्तुओं का अनुभव करते हैं। इन्द्रिय और वस्तु, दोनों के रहने पर उसकी अनुभूति होती है, लेकिन यह अनुभव अतीन्द्रिय है।

वस्तु समस्त इन्द्रियों के पहुँच से परे स्वरूप में स्थित

है--यही है अचिन्त्य वस्तु की अनुभूति। इसीलिए कहा कि क्या ऋषि-मुनियों ने उन्हें नहीं देखा। उनके स्वरूप की उपलब्धि नहीं की? उन लोगों ने चैतन्य के द्वारा चैतन्य का साक्षात्कार किया था। ठाकुर बार-बार कहते 'बोध में बोध होना,' अर्थात् शुद्ध बुद्धि के द्वारा शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होना। शुद्ध बुद्धि माने वह बुद्धि जो इन्द्रियों के द्वारा सीमित या विकृत न हो। वही शुद्ध बुद्धि और आत्मा एक है--इसीलिए कहा गया --चैतन्य के द्वारा ही चैतन्य की अनुभूति होती है। जो सीमा, धर्म या गुण अनन्त से पृथक किए रखते हैं, उन सबके दूर होने पर शुद्ध बुद्धि के द्वारा शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है अर्थात् शुद्ध बुद्धि शुद्ध आत्मा के रूप में ही अवस्थान करती है।

○

मानस-रोग (१३/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलिखन उनके तेरहवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्री राजेन्द्र तिवारी ने, जो सम्प्रति श्रीराम सगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं।—स.)

काकभुशुण्डिजी के प्रसंग में जिस सन्निपात की चर्चा की गई, वह बड़ा सांकेतिक है। यह सन्निपात लंका में तो है ही। वहाँ रावण के जीवन में काम, क्रोध, लोभ तीनों का अतिरेक है। परन्तु विडम्बना तो यह है कि यह अयोध्या में भी है। और इसी कारण राम राजा नहीं बन पाये। अभिप्राय यह है कि सन्निपात केवल बुरे व्यक्तियों को ही होता हो, ऐसी बात नहीं है, वह भले व्यक्तियों को भी हो जाता है। गोस्वामीजी कहते हैं—अपराध के मूल में मोह है और चरक प्रज्ञापराध की बात कहते हैं। दोनों एक ही हैं। तो व्यक्ति जब मोहग्रस्त होता है या प्रज्ञापराध करता है, कुपथ्य करता है तब वह रोगग्रस्त हो जाता है। पर क्या डॉक्टर या वैद्य रोगग्रस्त नहीं होते? कुपथ्य करने पर वैद्य भी रोग-ग्रस्त हो जाता है। तो चाहे मोहवश भूल हो, चाहे कुपथ्यवश रोग, दृष्टि यदि वैद्य की है तो वह दण्ड का पात्र नहीं, दया का पात्र दिखाई देगा।

श्री भरत की दृष्टि वैद्य की दृष्टि है और मन्थरा उनकी दृष्टि में एक रोगी की भाँति दया की पात्र है। इस पर विचार करके देखिए। मन्थरा को निमित्त बनाकर

अयोध्या में सन्निपात हो गया। वहाँ का सम्पूर्ण समाज सन्निपात ग्रस्त हो गया। और उसकी चिकित्सा श्री भरत जैसे संत ने की। यद्यपि कौशल्या अम्बा को लगा कि सबसे योग्य चिकित्सक गुरु वशिष्ठ ही हैं। भई, अपने घर का बेटा अगर डॉक्टर या वैद्य हो जाय तो माता पिता को उस पर विश्वास नहीं होता। रामायण में सबसे बड़े वैद्य तो श्री भरत ही हैं पर कौशल्या अम्बा तो उन्हें पुत्र की दृष्टि से देख रही थीं। उन्हें विश्वास ही नहीं होता कि मेरा पुत्र इतना बड़ा वैद्य है। उन्होंने सोचा कि सारा समाज रोगी हो चुका है और इस रोग को दूर करने वाले वैद्य के रूप में हमारे कुल को गुरु वशिष्ठ जैसे सन्त और सद्‌गुरु मिले हैं, अतः समाज के रोग की चिकित्सा उनके द्वारा ही होनी चाहिए। तब गुरु वशिष्ठ ने वैद्य की भूमिका स्वीकार कर ली और उन्होंने श्री भरत से कहा कि तुम अयोध्या का राज्य स्वीकार करलो और चौदह वर्ष तक राज्य चलाओ। राम के लौटने के पश्चात् तुम उन्हें राज्य सौंप देना। पर श्री भरत उनकी इन चिकित्सा पद्धति से सहमत नहीं होते। जब श्री कौशल्या अम्बा ने देखा कि श्री भरत इस प्रस्ताव से रंचमात्र भी उत्साहित नहीं हो रहे हैं, अपितु गुरुजी का प्रस्ताव सुनकर उन्हें दुःख हो रहा है तब उन्होंने तुरन्त कहा—

पूत पथ्य गुर आयसु अहई ।।
सो आदरिअ करिअ हित मानी ।
तजिअ बिषादु काल गति जानी ।।२/१७५/१-२

—भरत, जब वैद्य कोई पथ्य बतावे, कोई दवा बतावे तो यह आवश्यक नहीं है कि वह हमारे मन के अनुकूल ही हो। पथ्य तो बहुधा मन के अनुकूल नहीं

हुआ करता। इस समय सारा समाज रोगी है और स्वस्थ होने के लिए गुरु के द्वारा दिया गया पथ्य तुम्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। इसी से समाज की समस्या का समाधान होगा।

श्री भरत बड़े मृदुभाषी हैं पर गोस्वामीजी उनकी वाणी की विचित्रता भी बताते हैं। वे कहते हैं—

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे।
अरथु अमित अति आखर थोरे ॥२/२९३/२

—श्री भरत के बोलने में शब्द तो बहुत थोड़े होते हैं पर अर्थ बड़ा विस्तृत होता है, समझने में सुगम पर साथ ही अगम भी होता है और उससे भी आगे बढ़कर कह दिया कि सुनने में जितना कोमल उतना ही कठोर भी होता है। मृदु तो इतने हैं कि कह दिया—

गुर बिबेक सागर जगु जाना।
जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना ॥२/१८१/१

—'हमारे गुरुदेव तो विवेक के सागर हैं और सारे विश्व का ज्ञान उनकी मुट्ठी में बेर के फल के समान है।' सुनकर लगता है कि स्तुति कर रहे हैं। पर शब्द क्या है? स्तुति में भी व्यंग्य छिपा हुआ है। रामायण में भारद्वाज-प्रसंग में भी ऋषियों की प्रशंसा इसी शैली में की गई है। पर यहाँ पर एक शब्द बदला हुआ है। कौन सा?

जानहिं तीनि काल निज ग्याना।
करतल गत आमलक समाना ॥१/२९/७

—महर्षि याज्ञवलक्य और भारद्वाज अपने ज्ञान से तीनों काल की बातों को हथेली पर रखे हुए आँवले के समान (प्रत्यक्ष) जानते हैं। जैसे आँवले का फल मुट्ठी में

बन्द कर लेते हैं, इसी प्रकार से सारा ज्ञान इन महापुरुषों की मुट्ठी में है। अब श्री भरत की वाणी की कोमलता के साथ कठोरता क्या है? उन्होंने गुरु वशिष्ठ की प्रशंसा तो की पर उसमें कठोरता छिपी हुई है। कैसे? कह सकते थे कि गुरुजी की मुट्ठी में सारा ज्ञान आँवले के फल जैसा है। पर उन्होंने आँवला नहीं कहा। उन्होंने कहा--- हमारे गुरु के हाथ में सारा ज्ञान बेर के समान है। अब इसमें व्यंग्य क्या है? यह कि आँवला तो सदा पथ्य है और बेर से बढ़कर कोई कुपथ्य नहीं है।

धात्रिफल सदापथ्यमपथ्यं बदरीफलम्।

तो श्री भरत का व्यंग्य यह था कि वस्तुतः ऐसा लगता है कि आज गुरुजी आँवले के स्थान पर बेर का प्रयोग करने जा रहे हैं। और सचमुच क्या वह निदान सही था? क्या औषधि और पथ्य सही था? तब श्री भरत ने उसका विश्लेषण किया। समाज की समस्या क्या है और उसका सही निदान क्या है? समाज को इस बुराई से कैसे उबारा जाए? गुरु वशिष्ठ की व्यवस्था को वे कुपथ्य मानते हैं। श्री भरत के कहने का तात्पर्य यह है कि अगर मैं सिंहासन पर बैठ गया, तब तो लोगों को षडयन्त्र और धूर्तता की ही प्रेरणा मिलेगी। असत्य और कठोरता की ही प्रेरणा मिलेगी। लोग यही सोचेंगे कि मन्थरा और कैकेयी ने मिलकर ऐसी योजना बनाई और षडयन्त्र रचा कि भरत सिंहासन पर बैठ गए। अगर मेरे द्वारा समाज में मन्थरा और कैकेयी के उद्देश्य की पूर्ति हो जाय तो समाज स्वस्थ होगा या अस्वस्थ? आज भी

यही दिखाई देता है कि कोई बुरा व्यक्ति सफलता प्राप्त कर लेता है और अच्छे व्यक्ति को लोग असफल होते देखते हैं तो बहुतों के मन में यह बात आती है कि शायद अच्छा होने पर बुरा फल भोगना पड़ता है। तो बुरे व्यक्ति की सफलता तो दूसरे व्यक्ति को भी बुराई की ही प्रेरणा देगी। श्री भरत ने कहा कि इसका समाधान क्या है? इसका समाधान तो यह होना चाहिए कि हमारे जिस कार्य के द्वारा समाज स्वस्थ हो वह करने की आज्ञा गुरु वशिष्ठ हमें दें। कह तो दिया कि आपका निदान, औषधि और पथ्य ठीक नहीं है, पर कहते हैं बड़ी विनम्रतापूर्वक। इसीलिए गोस्वामीजी श्री भरत के लिए कहते हैं कि जैसे चतुर वैद्य कड़वी गोली को मिठास में डुबाकर देते हैं और उसे छोटा बालक भी बड़ी मग्नता से निगल लेता है। इसी प्रकार जब श्री भरत बोलने लगे, तो गोस्वामीजी लिखते हैं—

भरतु कमल कर जोरि धरम धुरन्धर धीर धरि।
बचन अमिअँ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि।२/१७६।

——अपने शब्दों को मधुरता के अमृत में डुबोकर सबको उचित उत्तर देते हैं।

दूसरी तरफ गुरु वशिष्ठ समाज की समस्या को आपात दृष्टि से देखते हैं और उसका तात्कालिक समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे मानो लक्षणों की चिकित्सा कर रहे हैं। महाराज दशरथ की मृत्यु हो चुकी है, श्रीराम वन को चले गये हैं। ऐसी स्थिति में शासक-विहीन समाज में शासनतंत्र सुव्यवस्थित नहीं रह पाएगा। गुरु वशिष्ठ की दृष्टि में इसका समाधान यही है कि भरत सिंहासन पर बैठकर समाज को सुव्यवस्थित रूप

से चलावें। तो देखने में तो यह समाधान गलत नहीं लगता, लेकिन श्री भरत कहते हैं कि यह जो जल्दी में लिया गया निर्णय है, क्या सचमुच इसके द्वारा समाज की समस्या का समाधान होगा ? आप लोगों ने तो देख ही लिया है कि——

पितु सुरपुर सिय रामु बन, करन कहहु मोहि राजु।
एहि तें जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काजु ।।२/१७७

——'पिताजी स्वर्ग में हैं, श्री सीताजी और श्री राम वन में हैं और मुझे आप राज्य करने के लिए कह रहे हैं। इसमें आप मेरा कल्याण समझते हैं या अपना कोई बड़ा काम होने की आशा रखते हैं। अब आप ही बताइए कि जिसके सिंहासन पर बैठने के पूर्व ही इतनी अशुभ घटनाएँ घट गई हों, तो आगे क्या होगा ? जैसे नववधू के घर में पैर रखते ही घटने वाली घटनाओं के आधार पर उसके शुभ-अशुभ लक्षणों को देखने की परम्परा है, उसी तरह यह भी देखते हैं कि इस शासक का लक्षण शुभ है या अशुभ ? तो श्री भरतजी ने कहा कि मेरे चरण कैसे हैं, यह तो अभी से दिखाई देने लगे। जिसके सिंहासन में बैठने के पूर्व ही पिता और लोक-शासक को प्राण त्यागने के लिए बाध्य होना पड़ा हो, जिसे सिंहासन षडयन्त्र से मिला हो और जिसके कारण श्रीराम को वन जाना पड़ा हो, जिस सिंहासन से ईश्वर दूर चला गया हो, उस सिंहासन पर बैठने वाला शासक क्या समस्याओं का समाधान दे सकता है ? आप लोग इस पर गम्भीरता से विचार करें——

कहउँ साँचु सब सुनि पतिआहू।
चाहिअ धरमसील नरनाहू ।।२/१७८/१

—'मैं सत्य कहता हूँ, आप लोग विश्वास करें, धर्मशील को ही राजा होना चाहिए।'

वशिष्ठजी के भाषण और कौशल्याजी के समर्थन के बाद जब श्री भरत बोलने को खड़े हुए तो उनका प्रारम्भिक भाषण ऐसा था कि जिससे लोगों को पूरा भ्रम हो गया। श्री भरत ने यहीं से प्रारम्भ किया—

मोहि उपदेसु दीन्ह गुर नीका।
प्रजा सचिव सम्मत सबही का॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा।
अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा।
गुर पितु मातु स्वामि हित बानी।
सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥
उचित कि अनुचित किएँ बिचारू।
धरमु जाइ सिर पातक भारू॥२/१७६/१-४

—'गुरुजी ने मुझे सुन्दर उपदेश दिया; प्रजा, मन्त्री आदि सबका यही मत है। माता ने भी उचित समझकर ही आज्ञा दी है और मैं भी उसे शिरोधार्य कर वैसा ही करना चाहता हूँ। क्योंकि गुरु, पिता, माता, स्वामी और मित्र की वाणी प्रसन्न मन से सुनकर उसे लाभकारी समझकर मान लेना चाहिए। उचित अनुचित का विचार करने से धर्म नष्ट होता है और सिर पर पाप का भार बढ़ता है।'

भरतजी का यह भाषण जब प्रारम्भ हुआ तो सुनने वालों को लगा कि सिंहासन पर बैठने की भूमिका बन रही है। कई लोग जब पद स्वीकार करते हैं तब कहते हैं कि मैं तो अपने को इस योग्य नहीं मानता और ग्रहण करना चाहता भी नहीं पर आप लोग जब इतना

आग्रह कर रहे हैं तो चलिए आप लोगों का आदेश पालन करने के लिए स्वीकार कर रहा हूँ। यहाँ श्री भरतजी भी तो यही कह रहे हैं कि गुरु, पिता, माता की बात को बिना विचार किए मान लेना चाहिए। लेकिन इसके बाद ही श्री भरत ने बहुत बढ़िया बात कही। यहीं से उन्होंने अपने भाषण को मोड़ दिया। श्री कौशल्याजी ने कहा कि जब तुम स्वयं यह मानते हो कि गुरु वशिष्ठ ने बहुत बढ़िया बात कही है, तो उसे स्वीकार करो। श्री भरतजी ने कहा—माँ केवल दवा का श्रेष्ठ होना ही यथेष्ट नहीं है। पहले इस बात का तो निर्णय हो जाय कि रोग हुआ कौन सा है? रोग का यदि सही निदान न हुआ और औषधालय की सर्वश्रेष्ठ दवा उठाकर रोगी को दे दी जाय, तो क्या इससे रोगी स्वस्थ होगा? अतः तुरन्त उन्होंने व्यंग्य करते हुए कहा कि लगता है कि गुरुजी ने सही निदान किए बिना ही दवा और पथ्य का विधान दे दिया है। और रोग का स्पष्ट निदान करते हुए उन्होंने कहा कि यहाँ पर तो यद्यपि केन्द्र में कामवात है पर उसके साथ मिलकर कफ और पित्त भी कुपित हो गये हैं। यह तो सन्निपात का लक्षण है। और इसकी पूरी दवा तो तब होगी जब समाज की समस्या को पूरी तरह से समझा जाएगा। जो वैद्य रोगी के रोग को ठीक से समझेगा, वही उसे ठीक दवा दे सकेगा। और तब श्री भरत कौशल्या अम्बा से कहते हैं कि यह जो संकट आया है, उसके निवारण के लिए अब केवल वैद्य ही पर्याप्त नहीं है। मुझे तो लगता है कि अब तीनों की आवश्यकता है। तीनों कौन?—ज्योतिषी, वैद्य और मंत्रशास्त्रवेत्ता। पर अयोध्या में न तो वैसा कोई ज्योतिषी दिखाई दे रहा है, न वैद्य और

न मंत्रशास्त्रवेत्ता ही। और तब उन्होंने संकेत करते हुए कहा कि अयोध्या की तीन समस्याएँ हैं। कौन-कौन सी? कहते हैं—'अयोध्या में ग्रहदशा आ गई है, वात रोग भी हो गया है और इतना ही नहीं, एक तीसरी समस्या भी है—

"ग्रह ग्रहीत पुनि वात बस तेहि पुनि बीछी मार।"

—ग्रहदशा है, वात रोग हुआ है और ऊपर से बिच्छू ने डंक मार दिया है। और तब श्री भरत ने व्यंगात्मक भाषा में माँ से कहा कि वैद्य आपने बहुत बढ़िया चुना है। जब किसी के ऊपर शनि की दशा आ गई हो, वात रोग हो गया हो और उस पर बिच्छू डंक मार दे, ऐसे व्यक्ति से वैद्यजी यह कह दें कि शराब पीकर सो जाओ। तो यह कोई दवा हुई क्या? शराब के नशे में एक क्षण के लिए रोगी दर्द को अनुभव नहीं करेगा, पर इससे क्या रोग दूर हो जाएगा? श्री भरत यही कहते हैं—

ग्रह ग्रहीत पुनि वात बस, तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइय बारुनी, कहहु काह उपचार ॥२/१८०

—माँ, यह तो उपचार नहीं लगता। इसलिए वे गुरुजी से अनुरोध करते हैं कि आप वैद्य रहें, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन कुण्डली का विचार भी तो ठीक से कर लीजिए। यह तो देख लीजिए कि कौन सी दशा आयी हुई है। और अगर आप चाहते हैं कि विष उतर जाय तो कम से कम यह तो पता लगावें कि किस जन्तु ने काटा है। क्योंकि अलग-अलग जन्तु के विष उतारने के लिए अलग-अलग मन्त्र हैं। बिना जाने यदि आप मन्त्र का प्रयोग करेंगे तो विष कैसे उतरेगा।

सारी अयोध्या की समस्या पर विचार करें, तो देखेंगे

कि अयोध्या का सारा समाज काम, क्रोध, लोभ——तीनों से ग्रस्त हो गया है, सन्निपातग्रस्त हो गया है। पर श्री भरत ने केवल काम की चर्चा की। उन्होंने कहा कि इस समय अयोध्या में वात रोग हुआ है। और रामचरित मानस की भाषा में काम ही वात रोग है——

काम बात कफ लोभ अपारा ।

——तो श्री भरतजी ने यहाँ पर जो केवल काम को महत्व दिया, इसका अभिप्राय यह है कि काम, क्रोध और लोभ इन तीनों पर अगर बिचार करके देखें तो सबके मूल में काम है। अगर पूरे घटनाक्रम पर विचार करें तो आपको लगेगा कि पहले काम वात आया, उसके बाद लोभ कफ, और अन्त में क्रोध रूपी पित्त भी आया। इस प्रकार सारा समाज सन्निपातग्रस्त हो गया।

यह सारी समस्या कैसे उत्पन्न हुई। महाराज दशरथ के चरित्र में कमी के कारण। और वह कमी थी असन्तुलित काम की। सौन्दर्य के प्रति आसक्ति तथा राग उनके जीवन में बहुत तीव्र था और उस राग का परित्याग वे अपने जीवन में नहीं कर पाये। इसी कारण उन्होंने दो और विवाह किए। उन विवाहों के पीछे उनके मन में यह तर्क था कि वे उत्तराधिकारी के लिए ही विवाह कर रहे हैं। पर उनके पूरे चरित्र को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कैकेयी के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर ही विवाह की इच्छा की थी। उन्होंने सुन लिया था कि कैकेयी अत्यन्त रूपवती है। और जब उन्होंने कैकय नरेश के सामने कैकेयी से विवाह करने की अपनी इच्छा व्यक्त की तो कैकय नरेश ने उनके सामने एक शर्त रखी। उस शर्त को महाराज दशरथ ने

बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लिया । यदि दशरथजी यहीं पर सावधान रहते तो आगे जो प्रतिकूल घटनाएँ हुईं, वे न हुई होतीं । महाराज दशरथ और कैकेयी की आयु में बड़ा अन्तर था । ऐसी स्थिति में जब दशरथजी ने महाराज कैकय से कैकेयी के लिए याचना की तो इस विवाह के लिए वे बिना प्रलोभन प्रस्तुत नहीं थे । और इसीलिए उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि मैं अपनी कन्या का विवाह आपसे तभी करूँगा, जब आप यह वचन दे देंगे कि मेरी कन्या के गर्भ से जन्म लेने वाला पुत्र ही अयोध्या के राज्य-सिंहासन का उत्तराधिकारी होगा । तो इसका अभिप्राय क्या हुआ ? यह कि महाराज दशरथ के काम एवं महाराज कैकय के लोभ में समझौता हो गया और इसके बाद महाराज दशरथ का कैकेयी से विवाह हुआ । फिर यह भी बहुत स्पष्ट था कि महाराज दशरथ भले ही अन्य रानियों के अच्छा व्यवहार करने की चेष्टा करते हों, पर कैकेयी के प्रति वे पक्षपात करते थे । इस बात से सभी अवगत थे । तो महाराज दशरथ और कैकेयी के विवाह में काम और लोभ के समझौते के बाद क्रोध की क्या स्थिति है ? मन्थरा कैकेयी की दासी है । वह कुरूप है, उपेक्षा की पात्र है और हीन-वृत्ति से पीड़ित है । ऐसी स्थिति में मन्थरा कैकेयी के साथ अयोध्या में आती है । अयोध्या के लोग उसकी कुरूपता पर हँसते हैं । और उसका परिणाम क्या हुआ ? उसके मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई । वह चिड़चिड़ी हो गई । यह एक स्वाभाविक परिणाम है । इस चिड़चिड़ेपन के कारण लोग उसकी निंदा करते हैं । लेकिन अगर विचार करके देखें कि कुरूप व्यक्ति को

चिड़चिड़ा बनाता कौन है ? ? तो उसे चिड़चिड़ा बनाने का दोष तो दूसरे व्यक्तियों का ही है। जब हम किसी की कुरूपता पर हँसेंगे या व्यंग्य करेंगे, उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगे, हँसी का पात्र समझेंगे, तो क्या उसके मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होगी ? वह तो कोई बिरला व्यक्ति ही होगा, जो इस घृणा की वृत्ति में भी आनन्द ले। यह सन्त वृत्ति है। मलिक मोहम्मद जायसी के बारे में एक बात बड़ी प्रसिद्ध है। वे एक बड़े प्रसिद्ध सूफी सन्त थे। उन्होंने पद्मावत नाम का बड़ा सुन्दर काव्य लिखा है। वे बड़े ही कुरूप थे। एक बार वे राजा की सभा में गए, तो उन्हें देखकर सभा के लोगों के होठों पर हँसी खेल गयी। प्रत्यक्ष रूप से तो वे लोग नहीं हँसे, पर मुँह दबाकर हँसने लगे। जायसी ने देख लिया और वे स्वयं भी हँसने लगे। वे तो विष पचाना जानते थे। जो लोग उनकी कुरूपता पर हँस रहे थे, उनसे उन्होंने तुरन्त पूछा—"आप लोग मुँह दबाकर क्यों हँस रहे हैं?" अब कौन कहे कि आपकी शक्ल देखकर हँस रहे हैं। किसी का साहस नहीं हुआ कुछ कहने का। तब उन्होंने स्वयं ही उलटकर कह दिया—"मैं समझ गया कि आप लोग मुझी पर हँस रहे हैं। लेकिन मैं आप लोगों से पूछता हूँ, 'मोहि का हँससि कि कोहरहि'—मुझ पर हँस रहे हैं कि कुम्हार पर। घड़ा अगर टेढ़ा हो जाय तो घड़े का दोष है कि कुम्हार का ? अगर मैं ईश्वर की रचना हूँ तो कुम्हार ने मुझे जैसा बनाया, वैसा मैं बन गया। आप लोगों को हँसना है तो ईश्वर पर हँसे, घड़े पर क्यों हँस रहे हैं ?" इस प्रकार उपहास और उपेक्षा को इतने आनन्द से स्वीकार कर लेना तो सन्त चरित्र

की विशेषता है। मन्थरा एक साधारण परिवार में उत्पन्न हुई सामान्य नारी मात्र है। कई लोग यह समझते हैं कि मन्थरा ने जो कुछ किया, वह कैकेयी के हित के लिए किया। पर इस बात में सत्यता बिलकुल नहीं है। उसने जो कुछ किया उसमें कैकेयी का हित केवल एक दिखावा मात्र था। यहाँ पर एक सूत्र मैं आपसे कह दूँ। गोस्वामीजी कहते हैं कि लोभ के दो बल हैं—

लोभ के इच्छा दम्भ बल, काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल, मुनिवर कहहिं बिचारि॥३/३८ख

—लोभी व्यक्ति के जीवन में दो बातें होती हैं—इच्छा और दम्भ। इच्छा होती है यह बात तो समझ में आती है, पर दम्भ भी होता है इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ है कि लोभी अगर दूसरे के सामने लोभी दिखे तो उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होगी। लोभी दम्भ करता है, दिखावा करता है कि उसके जीवन में लोभ नहीं है। और तब उसका परिणाम क्या होता है? लोग ऐसे व्यक्ति पर विश्वास करके धोखा खाते हैं। सुनते हैं कि महात्माजी नोट दूना कर देते हैं पर बदले में कुछ नहीं लेते। बस दो रोटी खाकर सन्तुष्ट रहते हैं। बड़े काम के हैं। इनसे अपना स्वार्थ सिद्ध हो सकता है। तो जहाँ इच्छा के साथ दम्भ मिल जाता है, वहाँ ठगवृत्ति बहुत बढ जाती है। और मन्थरा में यही इच्छा और दम्भ की वृत्ति विद्यमान है। वह कैकेयी की बड़ी हितैषी होने का दिखावा करती है। परन्तु वस्तुतः उसके मन में तो कैकेयी के प्रति भी आक्रोश है। क्योंकि ऐसा लगता है कि सर्वत्र उपेक्षित मन्थरा से कम से कम कैकेयी तो बड़ा स्नेह करती है। लेकिन कैकेयी के

स्नेह में भी आनन्द लेने की वृत्ति थी। वे स्वयं तो बड़ी सुन्दर थीं और मन्थरा थी कुरूप। जैसे एक धनी व्यक्ति एक निर्धन को देखकर इसलिए प्रसन्न होता है कि उसके गर्व को उससे सन्तोष मिलता है। क्योंकि अपने से अधिक धनी को देखकर वह अपने को धनी कैसे मानेगा। इसी तरह सुन्दर व्यक्ति कुरूप को देखकर अपनी सुन्दरता पर गर्व करता है कि मैं कितना सुन्दर हूँ। और रामायण में कई अवसरों पर ऐसा भी संकेत मिलता है कैकेयीजी मन्थरा पर जब तब व्यंग भी कसती रहती थीं। इसलिए मन्थरा के मन में किसी के भी प्रति, यहाँ तक कि कैकेयी के प्रति भी सहानुभूति नहीं है। उसके मन में प्रत्येक व्यक्ति से बदला लेने की वृत्ति विद्यमान है। और उसका परिणाम यह हुआ कि उसने सारे घटनाक्रम को बदल दिया। वह स्वयं तो रोगी थी ही, औरों को भी रोगी बना देती है। गोस्वामीजी कहते हैं कि रामराज्य होनेवाला है। चारों ओर नगर सजाया जा रहा है। मन्थरा अचानक पूछ बैठती है कि नगर क्यों सजाया जा रहा है? लोगों ने कहा––'क्या तुम्हें पता नहीं? श्रीराम का राज्याभिषेक होने वाला है।' यह सुनकर मन्थरा को बड़ा बुरा लगा कि इतनी तैयारियाँ चल रही हैं, बाहर के सब लोगों को मालूम हो चुका और मुझे अभी तक पता नहीं। मुझसे छुपाया गया है। मेरी उपेक्षा की गयी है। तब उसकी सन्देह की वृत्ति जग उठी––जरूर कोई षड्यंत्र की योजना है। और तब उसमें रोग आ गया। कौन सा रोग? मानस रोगों के सन्दर्भ में गोस्वामीजी ने कहा है––

पर सुख देखि जरनि सोइ छई। ७/१२०,२४

—अगर दूसरों के सुख को देखकर जलन होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि मन का राजयक्ष्मा हो गया है। तपेदिक या टी.बी. हो गयी है। मन्थरा तो पहले ही अस्वस्थ थी, हीनता की वृत्ति से ग्रस्त थी, अब यह राजयक्ष्मा भी आ गया।

पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू।
राम तिलकु सुनि भा उर दाहू।। २/१२/२

—'मन्थरा ने लोगों से पूछा कि यह कैसा उत्सव है? उनसे श्री रामचन्द्रजी के तिलक की बात सुनते ही उसका हृदय जल उठा।' तो राजयक्ष्मा का सबसे पहला प्रभाव हृदय पर ही पड़ता है। मन्थरा का हृदय जलने लगा। इसीलिए गोस्वामीजी ने व्यंग किया कि शत्रुघ्नजी ने जब मन्थरा को मारा तो वह मुँह के बल गिर पड़ी और उसके मुँह से रक्त निकलने लगा। रक्त निकलते देखकर भरतजी ने कहा कि यह तो रक्त ही बता रहा है कि इसे राजयक्ष्मा हुआ है। जब राजयक्ष्मा बहुत बढ़ जाता है, तो मुँह से रक्त भी आने लगता है। तो जब व्यक्ति मन के राजयक्ष्मा से ग्रस्त हो जाता है, जब वह दूसरों के सुख को देखकर जलने लगता है, तब उसके सामने दो ही उपाय होते हैं—या तो वह स्वयं पुरुषार्थ करके सुख प्राप्त करने की चेष्टा करता है या दूसरों के सुख को छीनने का प्रयत्न करता है, दूसरे को सुख से वंचित करने की चेष्टा करता है। मन्थरा यह तो समझती है कि मैं सिंहासन प्राप्त नहीं कर सकती, पर राम को सिंहासन पर बैठने से रोक तो अवश्य सकती हूँ। और तब परिणाम क्या होता है?—अब उसने बुद्धि का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। उसने सोचा कि अब तो

बस एक ही रात बची है, अब ऐसा कौन सा उपाय किया जाय जिससे राम को राज्य न मिलने पाए। और तब मन्थरा योजना बनाती है और उस कुटिल योजना को लेकर कैकेयी पास जाती है। और क्या करती है? वही भेद बुद्धि से प्रारम्भ करती है। वह कैकेयी से कहती है कि कल राम को राज्य मिलने वाला है। यह सुनकर कैकेयी अत्यन्त प्रसन्न हो जाती हैं और यहाँ तक कह उठती हैं कि मन्थरा! अगर यह समाचार सत्य है तो तुम जो माँगोगी वही दूंगी। यहाँ पर देखने से तो यही लगता है कि कैकेयी स्वस्थ हैं। पर यदि इसके अन्तरंग में पैठ कर विचार करें तो क्या दिखाई देता है? यहाँ पर गोस्वामीजी बड़ा ही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सूत्र देते हैं।

काम, क्रोध और लोभ की समस्या प्रत्येक व्यक्ति के जीवन से जुड़ी हुई है और ज्ञानी, भक्त तथा कर्मी के जीवन में तो क्रोध, काम एवं लोभ की विशेष परीक्षा होती है। क्रोध के सन्दर्भ में ज्ञानी की बड़ी परीक्षा है। अगर क्रोध आ रहा है तो अभी ज्ञान में कहीं न कहीं कोई कमी है। और काम के सन्दर्भ में भक्त की बड़ी परीक्षा है। यदि काम का आकर्षण उसको आकृष्ट कर रहा है तो सच्चे अर्थों में राम का आकर्षण उसके जीवन में नहीं है। और लोभ की वृत्ति अगर बनी हुई है तो उसके जीवन में निष्काम कर्म का सच्चा पालन नहीं हो रहा है। तो काम, क्रोध और लोभ ये तीनों क्रमशः भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग से जुड़े हुए हैं। ज्ञान से क्रोध क्यों जुड़ा हुआ है? क्रोध कैसे आता है? अभी आप भोजन कर रहे हैं और भोजन करते समय अचानक जीभ अपने ही दाँतों से दब जाती है और

केवल दब ही नहीं जाती, कभी-कभी तो कट भी जाती है और खून निकलने लगता है। पर इतना होने पर भी क्या आपको दाँतों पर क्रोध आता है ? क्या आप तुरन्त डॉक्टर के पास जाकर यह कहते हैं कि इन दाँतों को आप निकाल दीजिए, इसने आज मेरी जिह्वा को कष्ट दिया है। दाँत को दण्ड क्यों नहीं दिलवाते ? वैसे तो रास्ते में भीड़ में अगर पैर भी छू जाए तो लोग भिड़ जाते हैं कि तुमने मुझे पैर से मार दिया या धक्का दे दिया, देखकर नहीं चलते ? लेकिन यहाँ पर तो रामायण में इसका मनोविज्ञान बताया गया है। ज्ञान का अर्थ है कि जहाँ पर भेद-बुद्धि मिट गयी है। अद्वैत-वृत्ति आ गयी है। और जहाँ पर अद्वैत वृत्ति रहेगी, वहाँ पर क्रोध कैसे आयेगा ? क्रोध का मूल सिद्धान्त तो यही है कि—

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।।६/१११/ख

—'बिना द्वैत बुद्धि के क्रोध कैसा और बिना अज्ञान के क्या द्वैत बुद्धि हो सकती है ? माया के वश में रहने वाला परिच्छिन्न जड़ जीव क्या ईश्वर के समान हो सकता है ?' क्रोध आ गया तो इसका अभिप्राय यह है कि अभी द्वैत बना हुआ है। यही तो ज्ञानीजी एक बार असफल हो गये न ! हमारे लोमसजी बहुत बड़े ज्ञानी थे। और भुशुण्डि शर्मा जब उनसे शिक्षा लेने आये तो उनको भी उन्होंने यही उपदेश दिया कि अरे, तू किस ईश्वर को ढूंढ रहा है, वह ईश्वर तुझसे अलग थोड़े ही है ?

सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा।
बारि बीचि इव गावहि बेदा।। ६/११०/६

—जैसे जल और तरंग अलग नहीं है, इसी प्रकार ईश्वर और तुम अलग नहीं हो। तुम किसे खोज रहे हो ? तरंग जल को ढूँढे क्या यह संगत हो सकता है। बड़ी ऊँची ज्ञान की बात कही। अभेद तत्त्व की बात कही। लेकिन भुसुण्डिजी तर्क करने लगे। और उसका परिणाम यह हुआ कि थोड़ी देर बाद लोमसजी की आँखें लाल हो गयीं, भौंहें टेढ़ी हो गयीं, होठ फड़कने लगे और उन्हें क्रोध आ गया——

मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा। ७/११०/१४

——और जब देखा कि लोमसजी को क्रोध आ गया है, तो कागभुसुण्डिजी ने कहा कि पता चल गया——'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु'——कह तो रहे हैं भेद नहीं है और इतनी सी बात पर रुष्ट हुए जा रहे हैं। अतः द्वैत से ही क्रोध उत्पन्न होता है और द्वैत अगर विद्यमान है तो ऐसी परिस्थिति में अद्वैत तत्त्व की बात करना व्यर्थ है। बल्कि आगे चलकर यह लिखा हुआ है कि लोमसजी को इतना क्रोध आ गया कि वे बिगड़कर बोले——'अरे, सठ!' अभी तक तो वे कह रहे थे कि तू साक्षात् ब्रह्म है, और अब कहने लगे——सठ! सम्बोधन का शब्द ही बदल गया। जहाँ पर आग्रह होता है, वहाँ पर भी व्यक्ति को क्रोध आ जाता है। भले व्यक्तियों को भी अपने सिद्धान्त और मान्यता का आग्रह हो जाता है। व्यक्ति यह मान लेता है कि मैं जितना ठीक समझता हूँ, उतना ठीक कोई नहीं समझता। तो ऐसा व्यक्ति अपनी मान्यता दूसरों के ऊपर लादने की चेष्टा भी करता है। और दूसरा व्यक्ति जब उस मान्यता को स्वीकार नहीं करता तो उसको क्रोध आ जाता है कि मैं तो इसको इतनी बढ़िया

बात कह रहा हूँ और यह मेरी बातों पर ध्यान नहीं देता। यही मनोविज्ञान यहाँ पर दिखाई देता है। वैसे लोमसजी बड़े भक्त थे, बड़े मुनि थे और वे अपनी समझ से भुसुण्डिजी को बहुत बढ़िया ज्ञान देना चाहते थे। लेकिन कागभुसुण्डिजी बेचारे तो उस समय केवल भुसुण्डि थे, कागभसुण्डि नहीं हुए थे। भुसुण्डिजी ने अपनी लाचारी बताई तो उनको क्रोध आ गया और इतना क्रोध आया कि बिगड़कर वे बोले--

सठ स्वपच्छ तव हृदयँ बिसाला।
सपदि होहि पच्छी चंडाला॥ ७/१११/१५

--'जा, तेरे अन्तःकरण में पक्षपात है, तू चण्डाल पक्षी हो जा।' भुसुण्डि कौवा हो गये। उन्होंने मुनि के चरणों में प्रणाम किया। मुनिजी सजग व्यक्ति थे। क्रोध आ गया पर क्रोध आ जाने के बाद भी अपनी भूल को समझ लेना, उनकी महिमा थी। यह उनके चरित्र का गौरवपूर्ण पक्ष है। क्या? अगर क्रोध के बदले में भुसुण्डि को भी क्रोध आ जाता तो शायद लोमसजी के मन में कोई पश्चात्ताप न होता। लेकिन इन्हें क्रोध आ गया और बदले में भुसुण्डि को क्रोध नहीं आया, तो सोचने लगे कि मैं तो अद्वैत कह रहा हूँ और यह कह रहा है द्वैत, पर क्रोध इसने जीत लिया है और मैं नहीं जीत पाया। तो भीतर से ज्ञानी तो यही है, मेरा ज्ञान अभी कहीं न कहीं अधूरा है। और तब उन्होंने भुसुण्डि को पास बुलाया और जो चाहता था, वही उपदेश देकर उसे धन्य बनाया।

हम मन्थरा और कैकेयी के सन्दर्भ में देखें तो यहाँ पर भी काम, क्रोध, तथा लोभ तीनों हैं। तीनों को एक

तरह से जोड़ा गया है। मन्थरा ने क्या किया ? ज्ञान की दृष्टि से भी, भक्ति की दृष्टि से भी और कर्म की दृष्टि से भी--तीनों दृष्टियों से उसने अयोध्या में इतनी प्रतिकूलता की सृष्टि कर दी कि काम, क्रोध, लोभ--तीनों एकत्र हो गए। 'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु' अर्थात् भेद बुद्धि के बिना क्रोध नहीं आता। अब आप ध्यान से देखें कि मन्थरा क्या करने जा रही है ? कैकेयी के मन में तो राम के प्रति कोई क्रोध नहीं था। मन्थरा ने जब कहा कि राम को राज्य मिलने वाला है, तो कैकेयी प्रसन्न हो उठती हैं। मन्थरा जानती थी, उसने तय कर लिया था कि जब तक मैं इनकी बुद्धि में भेद नहीं उत्पन्न करूँगी, तब तक इनको राम के प्रति द्वेष नहीं होगा, क्रोध नहीं आयेगा---'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु,' और तब तक मेरी योजना सफल नहीं होगी। और अविलम्ब उसने अपनी भूमिका प्रारम्भ कर दी। उसने कैकेयी को याद दिलाया--'जानती हो राम किसके बेटे हैं ?' कैकेयी के मन में भेद नहीं है, उनके लिए श्रीराम और भरत समान हैं। और तत्वत्त: श्रीराम और भरत तो एक हैं ही, पर यहीं भेद बुद्धि की प्रतीक---मन्थरा, दोनों में भेद उत्पन्न करने की चेष्टा करती है। पर कैकेयी कहती हैं--'नहीं नहीं, मन्थरा! राम तो मुझे अपनी माँ से भी अधिक चाहते हैं।' इस पर मन्थरा ने तुरन्त कुटिलतापूर्ण सहमति व्यक्त करते हुए कहा कि तुम बिलकुल ठीक कहती हो। राम पहले कौशल्याजी से अधिक तुम्हें चाहते थे। वह बड़ी सावधानी से बढ़ रही थी, कैकेयी की बात उसने काटा नहीं, बल्कि कहती है कि आप बिलकुल ठीक कह रही हैं लेकिन आपको पता है ? यह पुराना समाचार है। वे पुराने दिन अब बीत चुके हैं--

रहा प्रथम अब ते दिन बीते।
समउ फिरें रिपु होंहि पिरीते ।।
भानु कमल कुल पोषनिहारा ।
बिनु जल जारि करइ सोइ छारा।
जरि तुम्हारि यह सवति उखारी।
रुँधहु करि उपाउ बर बारी ।। २/१६/६-८

— वह जो बात पहले थी, वे दिन अब बीत गये। समय फिर जाने पर मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। सूर्य कमल के कुल का पालन करनेवाला है, पर बिना जल के वही सूर्य उन कमलों को जलाकर भस्म कर देता है। कौसल्या तुम्हारी सौत है। वह तुम्हारे सौभाग्य को नष्ट करने पर तुली हुई है। अपने बेटे को सिंहासन पर बैठाकर तुम्हें संकट में डालना चाहती है।' और इस तरह मन्थरा ने कैकेयी के मन में विद्वेष पैदा कर दिया। कैकेयी पूछती है—'अब क्या करूं ?' मन्थरा याद दिला देती है—बस वे ही दो वरदान, एक लोभ का और एक क्रोध का। लोभ का वरदान यानी—राज्य कौशल्या के बेटे को नहीं मेरे बेटे को मिलना चाहिए। और क्रोध का वरदान यानी—केवल इतना ही नहीं कि मेरे बेटे को राज्य मिले, बल्कि इसका पूरा सुख तो तब मिलेगा जब कौशल्या से बदला लूं, उसके बेटे को राज्य से बाहर निकालकर वन में भेज दूं। मन्थरा ने भेद-बुद्धि की सृष्टि कर उसके मन में लोभ और क्रोध को उत्पन्न कर दिया। और तब उसका परिणाम यह हुआ कि कैकेयी लोभ और क्रोध में भरकर कोप भवन में जा बैठती हैं। और महाराज दशरथ जब कैकेयी के भवन में पहुँचे तो पता चला कि कैकेयी कोप भवन में बैठी हैं। अब इस समय

भी अगर महाराज दशरथ लौट जाते तो बात नहीं बिगड़ती। पर उनमें भी वही दुर्बलता थी--काम की दुर्बलता। वह सामने प्रकट हो गयी। वे कैकेयी के सौन्दर्य को देखने की तीव्र लालसा के साथ उसके महल में गये। तो लोभ में भरी हुई कैकेयी कोप भवन में बैठी हुई हैं और जो रही-सही कमी थी उसे महाराज श्री दशरथ ने पूरी कर दी। जब सुना कि कैकेयी कोप भवन में हैं, तो उनके पैर थरथरा उठे, लेकिन चले जा रहे हैं उधर ही। यह व्यंग है। भई जिधर जाने में डर लगे उधर मत जाइए। डर भी लगे और उधर चलते जाना! डर भी लगे और कुपथ्य भी करे, तो रोग होने का यह महालक्षण है। अतः महाराज दशरथ समझते-बूझते हुए कुपथ्य की ओर बढ़ रहे हैं--

कोपभवन मुनि सकुचेउ राऊ।
भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ।।
सुरपति बसइ बाँहबल जाकें।
नरपति सकल रहहिं रुख ताकें।।
सो मुनि तिय रिस गयउ सुखाई।
देखहु काम प्रताप बड़ाई।। २/२४/१-३

बस, वहाँ लोभ और क्रोध तो था ही, दशरथजी काम लेकर आ गये। और--

प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुखदाई।। ७/१२०/३१

और इस प्रकार ईश्वर जीवन से दूर चले गये और अयोध्या में सन्निपात का आगमन हुआ। इस सन्निपात को भरतजी जैसे वैद्य ही दूर कर सकते हैं। वे अपने चरित्र के द्वारा बताते हैं कि समाज इस रोग के मूल कारण काम, क्रोध और लोभ पर कैसे विजय प्राप्त करे। ○

श्री चैतन्य महाप्रभु (११)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। —स.)

वासुदेव सार्वभौम के साथ भक्ति और भगवत्तत्व की चर्चा में निमग्न रहते हुए चैतन्यदेव अतीव आनन्दपूर्वक पुरी में निवास करने लगे। उनसे आकृष्ट होकर क्रमशः अनेक उड़ीसावासी भी उनके भक्त हो गये। श्रीजगन्नाथ-दर्शन, समुद्रस्नान, महाप्रसाद-भिक्षा, भजन-कीर्तन, भगवत्चर्चा एवं ध्यान-धारणा में विभोर संन्यासी का जीवन परम आनन्द में व्यतीत होने लगा, तथापि कुछ काल बाद उन्होंने दक्षिण की तीर्थयात्रा करने की इच्छा व्यक्त की। डोल यात्रा का समय आसन्न था, अतः भक्तों ने उनसे उस समय तक ठहर जाने का विशेष अनुरोध किया। वे राजी हुए और पुरी में डोल का आनन्दोत्सव देखकर बड़े ही आनन्दित हुए। डोल के पश्चात् भी सार्वभौम आदि पुरी के भक्तगण तथा नित्यानन्द, जगदानन्द, मुकुन्द आदि गौड़ीय संगी-भक्तों के आग्रह पर, उन्होंने कुछ दिन और श्रीजगन्नाथ के चरणों के निकट निवास किया।

चैतन्यदेव प्रतिदिन प्रातःकाल ही श्रीजगन्नाथ का दर्शन करने मन्दिर में जाते थे। वहाँ जाकर नाट्य-मन्दिर के भीतर गरुडस्तम्भ के निकट दण्डायमान होकर वे श्रीजगन्नाथदेव का दर्शन करते थे। श्रीजगन्नाथ का दर्शन करके उनका हृदयसागर प्रेमभाव से आलोड़ित होने लगता था; इसी कारण वे भय से आगे नहीं बढ़ते

थे कि कहीं विह्वल होकर गिर न पड़ूँ। सार्वभौम ने ही उन्हें इस प्रकार गरुडस्तम्भ के सहारे खड़े होकर दर्शन करने की सलाह दी थी। सभी लोग दारुब्रह्म जगन्नाथ का अपने अपने इष्ट के रूप में दर्शन करते हैं। चैतन्यदेव ने उन्हें अपने प्राणों के प्राण परमात्मा श्रीकृष्ण के रूप में देखा था। प्रायः प्रति बार ही श्रीजगन्नाथ का दर्शन करते ही उनका मन पूर्णत: तन्मय हो जाता था; बाह्य-ज्ञान लुप्त हो जाता था। कभी वे प्रेम से इतने पुलकित हो जाते थे कि उनके नेत्रों से अविरल अश्रु प्रवाहित होकर कपोलों से होते हुए भूमि पर गिरता रहता था। विभिन्न अवसरों पर उनमें विविध प्रकार के अद्भुत परिवर्तन दीख पड़ते थे। नित्यानन्द भक्तों के साथ उनके समीप रहकर उनकी देहरक्षा करते थे और दर्शकगण विस्मयपूर्वक उस प्रेममूर्ति की ओर निहारते रहते थे। भक्तों के अनुरोध पर और भी कुछ दिन पुरी में बिताने के बाद बैशाख के अन्तिम भाग में चैतन्यदेव दक्षिण-भ्रमण को निकले।

उत्तर भारत में काफी समय से मुस्लिम प्रभाव फैलने बावजूद दक्षिण में सनातन धर्म, शिक्षा एवं संस्कृति तब भी अक्षुण्ण थी। प्राचीन काल के आर्य ऋषियों में प्राय: सभी उत्तर के निवासी थे परन्तु परवर्ती काल के प्रमुख आचार्यों में अधिकांश ही दक्षिण में जन्मे थे। सनातन धर्मावलम्बी त्यागी महात्मागण प्रधानत: 'संन्यासी' और 'वैरागी' (ज्ञानी और भक्त)—इन दो सम्प्रदायों में विभक्त है। अद्वैतवादी संन्यासी सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य श्रीमत् शंकर हैं और वैरागी सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य विशिष्टाद्वैतवादी श्री रामानुज और

द्वैतवादी श्री मध्वाचार्य हैं। इन सभी का जन्म दक्षिणी अंचल में हुआ है। चैतन्यदेव के हृदय में विशेष इच्छा थी कि इन समस्त आचार्यों की जन्मभूमि, शिक्षा तथा साधना के स्थानों का दर्शन करूँ; उनके द्वारा प्रतिष्ठित सम्प्रदायों, मठों एवं मतामतों का विशेष परिचय प्राप्त करूँ और साथ ही दक्षिण के सुप्रसिद्ध तीर्थों, मन्दिरों तथा विग्रहों का अवलोकन करूँ। फिर सुना जाता है कि उन्होंने भक्तों से यह भी कहा था कि मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता को खोजने दक्षिण जा रहा हूँ।

महात्मागण अपने चिरचंचल चित्त को स्थिर करने के लिए, त्याग-तितिक्षा का अभ्यास करने के लिए तथा भगवान के पादपद्मों में पूर्णतः आत्मसमर्पण करने के लिए निःसम्बल परिव्राजक के रूप में तीर्थादि का दर्शन करते हुए विचरण किया करते हैं। इसी प्रकार कुछ काल बिताने के पश्चात्, भगवान पर निर्भरता और संसार के माया मोह से पूर्ण विरक्तता आ जाने पर, वे लोग किसी अनकूल स्थान में आसन जमाकर, भगवद्भजन में कालयापन करते हैं।* एक शुभ दिन को चिर परम्परा के अनुसार चैतन्यदेव ने यात्रा आरम्भ की। प्रस्थान के पूर्व उन्होंने श्रीजगन्नाथ को साष्टांग प्रणाम करते हुए दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना की, 'हे प्रभो! मेरे चित्त की चञ्चलता एवं मलीनता को पूर्ण रूप से दूर कर दो। ऐसी

---

* यावत् स्याच्चचलं चित्तं तस्याद् यावत् सुनिर्मल
तावत् तीर्थानि पुण्यानि विचरेत् सर्वतः पुमान्।
ततः सुनिर्मले चित्ते स्थिरधीः पुरुषोत्तम
निवासं कुरुते नित्यं पथिक साश्रये यथा॥
—चैतन्य चरित (मुरारि गुप्त)

कृपा करो कि तीर्थदर्शन के उपरान्त मैं स्थिरचित्त से तुम्हारे चरणों में निवास कर सकूँ।"

नित्यानन्द ने सम्पूर्ण भारतवर्ष का परिभ्रमण किया था; अतः दक्षिण के रास्ते-घाटों, मठ-मन्दिरों तथा तीर्थ-क्षेत्रों के बारे में उन्हें विशेष जानकारी थी। उन्होंने चैतन्यदेव के साथ चलने की इच्छा व्यक्त की। जगदानन्द, मुकुन्द आदि अन्य गौड़ीय सहयात्रियों की भी उनके संग रहने की अतीव इच्छा थी, उन लोगों ने भी साथ जाने की अनुमति चाही। परन्तु चैतन्यदेव किसी को भी संगी बनाने को राजी नहीं हुए। श्रीभगवान के पादपद्मों में में अनन्य भाव से शरण लेने हेतु उन्होंने अपना निःसंबल एकाकी भ्रमण करने का संकल्प व्यक्त किया। सार्वभौम तथा अन्यान्य भक्तों के विशेष आग्रह* पर वे आखिकार संन्यासी के अनुचर ब्रह्मचारी के रूप में कृष्णदास नामक एक भक्त ब्राह्मण को साथ ले जाने को तैयार हुए। उनके परदेश भ्रमणकाल में सुख-सुविधा के लिए भक्तगण उनके साथ भेजने हेतु कुछ आवश्यक चीजें जुटाने लगे। यह देख चैतन्यदेव ने उन लोगों को कुछ भी देने से मना किया और संगी ब्रह्मचारी से गम्भीर स्वर में बोले—"कौपीन, वस्त्र और जलपात्र बस! इसके अतिरिक्त और कुछ भी साथ नहीं जाएगा।"

*उन लोगों ने कहा था—"आपके दोनों हाथ तो नाम-जप की गणना में लग रहेंगे, फिर आपका जलपात्र और वस्त्र कौन वहन करेगा? मार्ग में चलते समय जब आप भावावेश में अचेत हो जाएँगे तो आपका जलपात्र और वस्त्र कौन सम्भालेगा? हमारा निवेदन मानकर आप इस कृष्णदास नामक सरल ब्राह्मण को अपने साथ ले लीजिए। यह जलपात्र और वस्त्र वहन करते हुए आपके साथ जायेगा। आपकी यदि इच्छा हो तो यह कुछ बोलेगा नहीं।"

उन दिनों यद्यपि आज के समान रेलगाड़ी, स्टीमर, मोटर, वायुयान आदि द्रुतगामी यातायात के साधन उपलब्ध न थे, तथापि अनेक लोग पैदल ही सम्पूर्ण भारत का पर्यटन करते हुए तीर्थ आदि का दर्शन करते थे। उन दिनों भी यात्रियों की सुविधा के लिए सारे देश को जोड़ने वाला प्रशस्त राजपथ विद्यमान था। पथिकों की सुविधा हेतु सड़क के दोनों ओर पीपल, वट, आम और नीम के शीतल छायादायी घने वृक्ष लगाये जाते थे। उनके विश्राम के लिए जगह जगह तालाब और धर्मशाले बनाये जाते थे। सदाशय धनिकगण साधु-संन्यासी और दीन-दुखी पथिकों के लिए सदाव्रत, अतिथिशाला, मन्दिर, उद्यान आदि का निर्माण कराते थे। अब भी देश में सर्वत्र इस प्राचीन कीर्ति के ये ध्वंशावशेष देखने में आते है। हिन्दू की दृष्टि में अतिथि देवता के समान पूज्य है, अतिथि के नाराज होने पर गृहस्थ का महा अमंगल होता है। इस कारण सभी लोग यथासम्भव अतिथियों की सेवा किया करते थे। अत: तीर्थयात्री को कहीं भी ज्यादा असुविधा अथवा कष्ट का सामना नहीं करना पड़ता था। मुस्लिम-आक्रमण के बाद से उत्तर भारत में समय समय पर राजनीतिक अस्थिरता विद्रोह-विप्लव, युद्ध-विग्रह आदि चलते रहने पर भी दक्षिणी भारत शान्तिपूर्ण ही रहा। वैसे उत्तर भारत में भी तीर्थयात्री साधु-संन्यासियों के ऊपर सहसा कोई अन्याय या अत्याचार नहीं होता था। यही नहीं मुसलमान शासकगण भी इस ओर विशेष ध्यान रखते थे।

प्रत्येक अंचल की बोलचाल की भाषा अलग अलग होने के बावजूद सर्वत्र एक सामान्य भाषा का भी प्रचलन

था, जिसकी सहायता से बहुत-कुछ भाव के आदान-प्रदान का कार्य हो जाता था। आजकल की हिन्दी भाषा के समान, लगता है प्राचीन काल में प्राकृत भाषा का प्रचलन था। सम्पूर्ण भारत के ऊँचे तबके में संस्कृत भाषा के माध्यम से चर्चा होती थी। इसी के फलस्वरूप इस विशाल देश के एक स्थान में लिखित ग्रन्थ अथवा प्रचारित धर्मतत्त्व अति अल्प अवधि में ही एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक फैल जाते थे। फिर साधु-संन्यासी तथा पण्डे-पर्यटकों में से अनेक लोग विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं का थोड़ा बहुत ज्ञान रखते थे। पैदल चलते समय जगह जगह दो-चार दिन विश्राम करते हुए वे लोग विभिन्न स्थानों की बोलचाल की भाषा सीख जाते थे। आजकल भी ऐसे परिव्राजक साधु दीख पड़ते हैं, जो अधिक शिक्षित न होने पर भी पाँच-सात प्रादेशिक भाषाएं मजे में बोल लेते हैं। अतः उन दिनों हमारे आजकल के समान दुरवस्था न होने के कारण चैतन्यदेव को दक्षिण-भ्रमण और धर्मप्रचार में निश्चय ही कोई विशेष असुविधा नहीं हुई होगी।

भगवन्नाम का उच्चारण करते हुए एक शुभ मुहूर्त में चैतन्यदेव पुरी से दक्षिण की ओर रवाना हुए। समुद्र के किनारे किनारे चलते हुए उस दिन अलालनाथ* पहुँचकर उन्होंने रात्रिवास किया। नित्यानन्द और भक्तगण उन्हें अलालनाथ तक छोड़ने आये थे। अगले

* पुरी से छह-सात कोस दूर अलालनाथ नामक एक छोटा सा ग्राम है। सुनते हैं कि वहाँ वासुदेव का एक मन्दिर है। फिर उसके निकट ही उसी अंचल में अलालनाथ नाम का एक सुप्रसिद्ध शिवालय भी है।

दिन भोर के समय प्रेमालिंगन के पश्चात् अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ उन्होंने संन्यासी को विदा किया और पुरी की ओर लौट पड़े। उधर सौम्य शान्त यतिराज भी अपने संगी सेवक के साथ धीरे धीरे दक्षिण की ओर अग्रसर हुए। चैतन्यदेव पूर्ववत् ही भगवन्नाम-कीर्तन और स्मरण-मनन करते हुए; भिक्षान्न से उदरपूर्ति करते हुए; तथा आश्रम, देवालय अथवा भक्तों के घर रात्रिवास करते हुए सुदीर्घ पथ पार करने लगे। प्रति दिन नये नये स्थान, तीर्थ, मन्दिर, देवविग्रह आदि का दर्शन करके, साधु-संन्यासीगण का संग करके, गुणी-ज्ञानी पण्डितों के साथ चर्चा करके, स्वधर्मनिष्ठ भक्त सद्गृहीगण के साथ धर्मप्रसंग करके तथा विभिन्न स्थानों के मनोरम प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन करके उनका हृदय आनन्दोल्लास से परिपूर्ण हो जाता।

वे जहाँ कहीं भी पहुँचते, लोग उनका उज्ज्वल मुखमण्डल, दिव्य देहकान्ति और भगवत्चर्चा के समय अलौकिक भावावेश देखकर मुग्ध हो जाते थे। एक दूसरे के मुख से सुनकर, इन असाधारण संन्यासी को देखने के लिए सर्वत्र ही लोगों की भीड़ एकत्र हो जाती थी। सन्यासी जगद्गुरु हैं, सबके प्रणम्य हैं; अतः सर्वत्र ही लोग इन साक्षात् नारायण-मूर्ति संन्यासी का भक्तिपूर्वक अभिवादन कर उपदेश और आशीष की याचना करते थे। प्रेमिक संन्यासी भी सबको यथायोग्य सम्मान देकर स्नेहपूर्वक स्वीकार करते और सत्पथ पर चलते हुए स्वधर्मपालन भक्ति एवं निष्ठापूर्वक भगवद्भजन तथा नामसंकीर्तन करने का उपदेश देते। वे जब अपनी करुणापूर्ण दृष्टि से लोगों का मनोप्राण

मोहते हुए, मधुर वाणी में धर्मोपदेश करते, तो सबके मन में एक प्रबल धर्मप्रेरणा का उदय होता। जगह जगह वे लोगों के साथ मिलकर उच्च स्वर में हरि-संकीर्तन करते। कीर्तन के समय उनमें दिव्यभाव की अभिव्यक्ति देखकर लोग स्तम्भित होकर सोचते, "ये अद्भुत् संन्यासी कौन हैं ?" फिर कभी कभी वे प्रेम में विगलित होकर किसी किसी भाग्यवान का आलिंगन करके उसे सदा-सर्वदा के लिए अपना बना लेते। कहीं कहीं उनकी धर्मद्वेषी नास्तिक लोगों के साथ भी भेंट हुई। अधिकांश स्थानों पर ये सभी पाण्डित्य-दम्भी लोग उनके अगाध शास्त्रज्ञान,तीक्ष्ण युक्तिविचार और अपरोक्षानुभूति-जनित अलौकिक शक्ति के समक्ष परास्त होकर मस्तक झुका लेते थे, फिर उनमें से अनेक उनके मतानुयायी होकर उनका आश्रय ग्रहण कर लेते थे। इसी प्रकार धर्मप्रचार करते अग्रसर होते हुए वे गंजाम जिला के कूर्मक्षेत्र में जा पहुँचे।

कूर्मक्षेत्र एक अति प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। वहाँ पर भगवान का कूर्म विग्रह विराजित है। चैतन्यदेव दर्शनादि करने के पश्चात् अतीव आनन्द के साथ वहाँ ठहरे। उसी कूर्मक्षेत्र में वासुदेव नाम के एक भक्त का निवास था। पूर्व कर्मों के फलस्वरूप उनका शरीर भयानक कुष्ठरोग से आक्रान्त होकर बिल्कुल सड़ गया था। यहाँ तक कि उनके सड़े घावों में कीड़े तक पड़ गये थे। भक्त वासुदेव इसे अपने प्रारब्ध का फल समझकर, इस भीषण कष्ट को अम्लानवदन सहन करते हुए, भगवद्-भजन करते हुए कालयापन कर रहे थे। कहते हैं कि किसी कारणवश अपने शरीर के घाव से किसी कीट के गिर जाने पर, वे उसे उठाकर फिर उसके स्थान पर रख देते थे। वहाँ

चैतन्यदेव का दर्शन करने के लिए चारों ओर लोग भीड़ लगाकर खड़े थे, वासुदेव भी उनका नाम सुनकर दर्शन करने को आये थे। परन्तु भीड़ के कारण वे भली-भाँति दर्शन नहीं कर पाते थे और अपनी अस्पृश्यता के कारण अग्रसर भी नहीं हो सकते थे। चैतन्यदेव की दृष्टि अचानक ही उनकी ओर आकृष्ट हुई। जौहरी ही रत्न की पहचान कर सकता है। चैतन्यदेव भीड़ से बाहर निकलकर उनके पास गये और वासुदेव के बारम्बार मना करने पर भी उन्हें प्रेमालिंगन में आबद्ध कर लिया। प्रेमभक्ति से वासुदेव का अन्तर अभिभूत हुआ और वहाँ उपस्थित लोग भी यह महान दृश्य देखकर स्तम्भित रह गये। चैतन्यदेव ने वासुदेव को कृतार्थ किया और भगवान के शरणागत होकर सर्वदा उनका नाम-कीर्तन करने का उपदेश दिया। परवर्ती काल में चैतन्यदेव के पुण्यस्पर्श के फलस्वरूप उनकी कुष्ठाक्रान्त काया निरोग, सुन्दर, स्वस्थ एवं सबल हो गयी और वे एक श्रेष्ठ भक्त के रूप में सुपरिचित हुए।

कूर्मक्षेत्र से चलकर संन्यासी ने सिंहाचलम् तीर्थ* में श्री नृसिंह भगवान का दर्शन किया। एक उच्च पर्वत के ऊपर, अति मनोरम परिवेश के बीच नृसिंहदेव का मन्दिर विद्यमान है। उस स्थान को नृसिंहक्षेत्र या प्रह्लादपुरी भी कहते हैं। वहाँ पर भगवान के सेवा-पूजा की सुन्दर व्यवस्था है। चैतन्यदेव ने वहाँ भक्तिप्रेम में पुलकित होकर तथा नृसिंहदेव की आराधना करने के पश्चात् उनकी आशीर्वाद याचना कर विदा ली। दक्षिण की ओर चलते हुए वे क्रमशः गोदावरी के तट पर स्थित विद्यानगर पहुँचे। (क्रमशः)

* यह तीर्थ वाल्टेयर के निकट स्थित है।

भक्तों के प्रकार

(गीताध्याय ७, श्लोक १५-१९)

स्वामी आत्मानन्द

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव तथा 'विवेक-ज्योति' के सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आश्रम के रविवारीय सत्संग में २ जुलाई १९६७ से १८ जनवरी १९७६ के दौरान श्रीमद्भगवद्गीता पर कुल २१३ प्रवचन दिये थे। उन्हें ही क्रमशः यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। इनमें से शुरू के ७८ प्रवचन 'गीतातत्त्व-चिन्तन' भाग-१ तथा भाग-२ के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। –स.)

पिछले प्रवचन में चौदहवें श्लोक पर चर्चा हुई थी। गीता में सामान्यतः दार्शनिक विवेचन अधिक नहीं है, किन्तु कहीं कहीं भगवान की ऐसी उक्तियाँ हैं जिनसे दार्शनिक पक्ष ध्वनित होता है। जैसा कि चौदहवें श्लोक में, जहाँ माया का वर्णन हुआ है। इसमें भगवान ने माया को अपनी शक्ति बताकर उसे दैवी कहा है। माया को हम मिथ्या भी कह सकते हैं और दैवी भी। दोनों पक्ष सही हैं, केवल दृष्टिकोण का भेद है। ज्ञानयोग की दृष्टि से माया मिथ्या है और भक्तियोग की दृष्टि से वह दैवी शक्ति है।

श्रीरामकृष्ण के अद्वैत वेदान्त के गुरु थे श्रीमत् तोतापुरीजी। वे ज्ञानयोगी थे; **'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या'** के तत्व में प्रतिष्ठित थे, अतः उनकी दृष्टि में माया मिथ्या थी। किन्तु श्रीरामकृष्ण ज्ञानयोग के साथ साथ भक्तियोग में भी प्रतिष्ठित थे, अतः उनकी उदार दृष्टि में माया ईश्वर की शक्ति थी तथा वे इसे ही जगन्माता

कहकर भी पुकारते थे। श्रीरामकृष्ण जब जगन्माता का नाम लेकर तालियाँ बजाते, तब तोतापुरी व्यंगपूर्वक कहते--यह क्या रोटी ठोकता है! किन्तु श्रीरामकृष्ण कहते—'नहीं महाराज, ब्रह्म की भाँति ही मेरी जगदम्बा भी सत्य हैं, वैसे ही जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति--दोनों अभिन्न और सत्य हैं।' और हम सभी जानते हैं कि अन्त में तोतापुरी महाराज को भी इस सत्य का अनुभव हुआ तथा उन्होंने भी इसे स्वीकार किया। उन्होंने भी यह मान लिया कि जगन्माता की कृपा से ही मनुष्य को माया के सच्चे स्वरूप का ज्ञान होता है, अतः उनकी शरण में जाना चाहिए।

ईश्वर की शरण लेना यही एकमात्र उपाय है। केवल ज्ञान (अर्थात् कोरे शास्त्रज्ञान) के बल पर मनुष्य माया के पार नहीं जा सकता। यहाँ शरणागति का भाव हमारे समक्ष रखा गया, जिसे मैंने 'गीता का दर्शन' कहा है। अब--

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।७/१५

दुष्कृतिनः (दुष्कर्म करने वाले) मूढ़ाः (विवेकहीन) मायया अपहृतज्ञानाः (मायाद्वारा हरे हुए ज्ञानवाले मोहग्रस्त) नराधमाः (नीच लोग) आसुरम (असुरों की तरह) भावम् (स्वभाव को) आश्रिताः (आश्रय करके) माम (मेरा) न प्रपद्यन्ते (भजन नहीं करते)।

आसुरी स्वभाव के आश्रित, माया द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, दुष्कर्म करने वाले मूढ़ नराधम---ऐसे लोग मेरा भजन नहीं करते।

पहले कहा था---**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते**--जो मेरे पास आते हैं, मेरा भजन करते हैं, वे माया को पार कर जाते हैं। किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि फिर सभी लोग भगवान की शरण में क्यों नहीं चले जाते ? इस श्लोक में भगवान ने पाँच ऐसे विशेषण लगा दिये कि ऐसे ऐसे व्यक्ति मेरे पास नहीं आ सकते। ये विशेषण हैं (१) **दुष्कृतिनः**---जो कुकर्मी हैं, (२) **मूढ़ाः**--जो मूर्ख अविवेकी है, (३) **नराधमाः**-- जो नराधम नीच है, (४) **मायया अपहृतज्ञानाः**---माया द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, (५) **आसुरं भावमाश्रिताः**--जो आसुरी पशु प्रवृत्ति के अधीन हैं।

इस पर थोड़ी चर्चा करें। **दुष्कृतिनः**---दुष्कर्म कौन करता है ? वही व्यक्ति करता है जो चिन्तनशील नहीं है, जो अविवेकी है। वह माया को माया के रूप में न देखकर उसे ही सत्य समझ लेता है। परिणामस्वरूप उसकी वृत्तियाँ लगातार भोगों की ओर ही दौड़ती रहती हैं। इस प्रकार वह नास्तिक हो जाता है। ऐसे दुष्कर्मी भगवान के पास आने में समर्थ नहीं होते।

मूढ़ाः---मूढ़ का अर्थ है निपट अज्ञानी। ये लोग ईश्वर तथा आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते, इसलिए मेरे पास नहीं आते।

नराधमाः---ये ऐसे लोग हैं जो मेरे सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत जानते तो हैं किन्तु मेरी ओर आने की उनके मन में प्रवृत्ति नहीं होती। ये ही नराधम--नरों में अधम अर्थात् नीच होते हैं।

मायया अपहृत ज्ञानाः---ये ऐसे लोग हैं जो ईश्वर के सम्बन्ध में जानते तो हैं, किन्तु वे अपने प्रबल अहंकार

के कारण कहते हैं कि जब तक तर्क के द्वारा ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं जाता तब तक हम उसके विषय में नहीं सोचेंगे? इन लोगों ने ईश्वर के सम्बन्ध में विचार किया है, तर्क किया है, किन्तु इनके जीवन में अभिमान के रूप में आनेवाली माया इतनी प्रबल होती है कि इनका ज्ञान उससे ढँक जाता है और इसी कारण ये लोग ईश्वर के पास पहुँचने में असमर्थ होते हैं।

आसुरीभावम् आश्रिताः--ईश्वर से द्वेष करनेवाले, जैसे रावण। क्या रावण नहीं जानता था कि राम ईश्वर के अवतार हैं? जानता था। किन्तु अपने आसुरी स्वभाव के कारण वह भगवान से द्वेष करता था और इसी कारण ईश्वर के पास जाने में असमर्थ रहा। ये ईश्वरद्वेषी लोग ही आसुरी भाव के आश्रित होते हैं।

कौन कौन लोग उनके पास नहीं जा सकते भगवान द्वारा यह बताने का तात्पर्य क्या है? यहाँ संकेत क्या है? संकेत यह है कि ईश्वर के पास वे ही लोग जा सकते हैं, जो दुष्कर्मों का त्याग करें, जिनके मन में ज्ञान हो, ईश्वर-प्राप्ति की अभिलाषा हो, जो अभिमानी व कुतर्की न हों और जो आसुरी भाव के आश्रित अर्थात् ईश्वरद्वेषी न हों। केवल ऐसे लोग ही ईश्वर को पा सकते हैं, उसके पास जा सकते हैं।

श्रीरामकृष्णदेव के दिव्य जीवन को देखने पर कभी कभी यह शंका उठती है कि उनके पास तो गिरीश घोष जैसे दुष्कर्मी लोग भी आये थे, किन्तु उन्होंने तो ईश्वर को पा लिया। इसका उत्तर यह है गिरीश दुष्कर्मी तो थे किन्तु उनके मन में श्रीरामकृष्ण के प्रति अगाध विश्वास था। उसी विश्वास के चलते धीरे धीरे

उनके सभी दुष्कर्म छूट गये। किन्तु जिन लोगों के मन में श्रद्धा-विश्वास नहीं था, वे श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आकर भी ईश्वर को न पा सके। हाजरा महाशय वैसे ही एक व्यक्ति थे। ये दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्णदेव के पास ही रहते थे। किन्तु उनके मन में दृढ़ विश्वास या श्रद्धा नहीं थी। कभी कभी तो वे श्रीरामकृष्णदेव को बहुत बड़ा महापुरुष समझते थे, किन्तु फिर सोचने लगते—'अरे, ये तो गाँव के एक अपढ़ व्यक्ति हैं, गँवारू भाषा बोलते हैं, ये भला कभी महापुरुष हो सकते हैं? मैं तो उनसे बहुत अधिक जानता हूँ, अतः ज्ञानी हूँ।' अपने इस अहंकार तथा अविश्वास के कारण ही हाजरा ईश्वर के निकट न जा पाये।

इसके पश्चात् अगले श्लोक में भगवान बताते हैं कि कितने प्रकार के लोग मुझे भजते हैं——

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।७/१६

भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ) अर्जुनः (अर्जुन) आर्तः (पीड़ित) दुःखी) जिज्ञासुः (जानने को उत्सुक) अर्थार्थी (धन-सुखादि पाने के इच्छुक) ज्ञानी च (और ज्ञानी) चतुर्विधाः (चार प्रकार के सुकृतिनः (पुण्यकर्मी) जनाः (मनुष्य) माम् (मुझे) भजन्ते (भजते हैं)।

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! दुखी-पीड़ित, ज्ञानेच्छु, धन-संपत्ति आदि चाहने वाले तथा तत्त्वज्ञानी——ये चार प्रकार के सत्कर्मसम्पन्न लोग मुझे भजते हैं।

भगवान ने इन चारों को भक्त कहा है। भक्त इसलिए कहा कि ये लोग **सुकृतिनः** हैं——अच्छे कर्म करने वाले हैं। और कहा कि मुझे भजते हैं। भक्ति शब्द भज्

धातु से व्युत्पन्न है। भज् धातु के कई अर्थ होते हैं। एक अर्थ होता है बाँटना। भागो भक्तिः। भक्ति बाँट देती है। एक ओर संसार और दूसरी ओर ईश्वर। भक्त वही है जो संसार को छोड़कर ईश्वर को पकड़ता है। दूसरा अर्थ है—भजनं नामरसनम्। भजन करना अर्थात् रस लेना। जिस प्रकार पशु जुगाली करते हैं, जो चारा खाया था उसे ही थोड़ा थोड़ा पुनः मुंह में लाकर उसे चबाते हैं, उसका रस लेते हैं। उसी प्रकार हमने ईश्वर के विषय में जो पढ़ा या सुना है, उसका बार बार चिन्तन करना, उस पर मनन करना—यह भी भक्ति है। अतः उपरोक्त चारों प्रकार के लोग भक्त हैं।

आर्त—अर्थात् जो विपत्ति में पड़ने पर ईश्वर की शरण में जाता है। ईश्वर का भजन करता है। सम्भवतः सुख-सुविधा के समय वह भले ही ईश्वर का स्मरण नहीं करता, किन्तु दुःख या विपत्ति आने पर वह अवश्य ही उनका स्मरण करता है।

जिज्ञासु—अर्थात् जो जानने का इच्छुक है, ज्ञान पाना चाहता है, ईश्वर के स्वरूप को समझना चाहता है। अतः वह भी भक्त है। क्योंकि वह ईश्वर का स्मरण करता है।

अर्थार्थी—अर्थात् धन-संपत्ति या अन्य किसी लाभ की इच्छा से, किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भगवान का स्मरण करता है, उनसे प्रार्थना करता है। वह भी भक्त है।

ज्ञानी—जिसे ईश्वर के स्वरूप का पूरी तरह ज्ञान हो गया है, जो उन्हीं में समाहित है। वह भी भक्त है।

ये जो चार प्रकार के भक्त है—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—इनमें हर परवर्ती श्रेणी अपने पूर्ववर्ती से कुछ उच्चतर है। आर्त भक्त का सोपान सबसे नीचे हैं, जिसमें व्यक्ति विपत्ति में पड़ने पर भगवान को पुकारता है। उससे ऊपर के सोपान में हैं जिज्ञासु। इससे भी ऊपर सोपान है अर्थार्थी का, जो किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए भगवान को भजता है। बड़ा विचित्र सा लगता है कि जिज्ञासु की अपेक्षा अर्थार्थी ऊपर के सोपान में कैसे है? इसका कारण यह बताया गया है कि जिज्ञासु अभी तक ईश्वर के अस्तित्व-रूपादि के सम्बन्ध में निःसन्दिग्ध नहीं हो पाया हैं। किन्तु जो अर्थार्थी है वह ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में पूर्णतः आश्वस्त है। उसके मन में इस सम्बन्ध में कोई सन्देह है, इसीलिए वह ईश्वर से अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थना करता है।

इन चार प्रकार के भक्तों में भी ज्ञानी विशेष या श्रेष्ठ है, सबसे ऊपर के सोपान पर है—यह बात भगवान आगे कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।७/१७

तेषाम् (उनमें) नित्ययुक्तः (सदा मुझमें निमग्न चित्त) एक-भक्तिः (केवल मेरी भक्ति करनेवाला) ज्ञानी (तत्त्वज्ञ) विशिष्यते (श्रेष्ठ है) हि (क्योंकि) अहं (मैं) ज्ञानिनः (ज्ञानी का) अत्यर्थं (अत्यन्त) प्रियः (प्रिय) (हूँ) च (और) सः (वह) मे (मेरा) प्रिय (प्रिय है)।

इन चार प्रकार के भक्तों में चित्त को सदा मुझमें निमग्न रखने वाला, केवल मेरी ही भक्ति करनेवाला तत्त्वज्ञ व्यक्ति ही श्रेष्ठ है। क्योंकि ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ तथा वह भी मुझे बड़ा प्रिय है।

इन चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी विशेष या श्रेष्ठ क्यों है ? इसके दो कारण हैं। एक तो वह नित्ययुक्त है। अन्य लोग सदैव ईश्वर से युक्त नहीं हैं। आर्त जब संकट में है तभी ईश्वर का स्मरण करता है। अर्थार्थी अपनी कामना-पूर्ति के लिए ईश्वर को पुकारता है और उसी समय ईश्वर से युक्त होता है। जिज्ञासु जिस समय जानना चाहता है उसी समय ईश्वर का चिन्तन करता है, सदैव नहीं। किन्तु ज्ञानी ही ऐसा है जिसके ईश्वर स्मरण में कहीं खण्ड नहीं, व्यवधान नहीं पड़ता। वह सदैव एकरस होकर ईश्वर का स्मरण करता रहता है। अतः नित्ययुक्त है।

दूसरी विशेषता — वह एकभक्ति है, एकनिष्ठ है। ज्ञानी ईश्वर को अपना स्वरूप समझता है, अतः उसकी भक्ति और निष्ठा अचल हो जाती है। अपने स्वरूप— ईश्वर में निमग्न होने के कारण वह अन्य किसी की भक्ति नहीं करता। इसी कारण वह एकभक्ति है, अतः श्रेष्ठ है। वेदान्त शास्त्र में भी ऐसे ही ज्ञानी को गुरु माना गया है जो कि श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो, श्रोत्रिय अर्थात् श्रुतियों नें पारंगत हो तथा ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् उसकी निष्ठा एकमात्र ब्रह्म में ही हो।

यहाँ कभी-कभी कुछ साधकों के मन में यह प्रश्न उठता है कि रामकृष्ण तो शास्त्रज्ञ नहीं थे। उन्होंने संस्कृत और वेदान्त नहीं पढ़ा था। तब क्या वे श्रोत्रिय नहीं थे ? एक विहंगम दृष्टि से यदि हम उनके जीवन का अवलोकन करें, तो हमें यह स्पष्ट दीख पड़ेगा कि उनके जीवन और उपदेशों में वेदान्त सहित सारे शास्त्र मूर्तिमान हो उठे थे। इसीलिए तो स्वामी विवेकानन्दजी

ने कहा था—"इस बार भगवान ने शास्त्रों को प्रमाणित करने के लिए ही निरक्षर के रूप में अवतार लिया है।" उस समय के बड़े-पण्डितों ने श्रीरामकृष्ण की अनुभूतियों के विषय में सुनकर कहा था कि आपके अनुभव तो वेद-वेदान्त के भी पार चले गए हैं। अतः यह स्पष्ट है कि श्रीरामकृष्ण ब्रह्मनिष्ठ होने के साथ ही साथ श्रोत्रिय भी थे।

पुनः इन ज्ञानी-भक्तों की विशेषता बताते हुए भगवान् कहते हैं:—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।७/१८

एते (ये) सर्वे एव (सभी) उदाराः (श्रेष्ठ, महान हैं) तु (किन्तु) ज्ञानी (तत्त्वज्ञ) आत्मा एव (मेरा आत्मस्वरूप ही) (है) मे (मेरा) मतम् (मत है) हि (क्योंकि) सः युक्तात्मा (वह ज्ञानी मुझमें) निमग्न चित्त है) अनुत्तमां (सर्वोत्तम) गतिं (गति) माम एव (मुझमें ही) आस्थितः (आश्रय किये है)।

ये सभी प्रकार के भक्त श्रेष्ठ हैं, किन्तु ज्ञानी मेरा आत्मस्वरूप है, यह मेरा मत है, क्योंकि वह ज्ञानी मुझमें निमग्नचित्त है तथा सर्वोत्तम गतिरूप मुझको ही आश्रय किये है।

टीकाकारों ने कहा है कि ये चारों प्रकार के भक्त उदार अर्थात् श्रेष्ठ हैं। फिर ज्ञानी का तो कहना ही क्या ? वह तो भगवान की आत्मा ही है। क्योंकि ज्ञानी ही उनके स्वरूप को संसार के समक्ष प्रकट करना है।

ईश्वर को हम कैसे समझ पाते हैं ? किस माध्यम से हमें उसका ज्ञान होता है ? तत्व की दृष्टि से कितने लोग ईश्वर की धारणा करने में समर्थ होते हैं ? जिस

समय वह ईश्वर तत्व किसी महान व्यक्ति के रूप में धरती पर प्रकट होता है जिसे हम अवतार, मसीहा आदि कहते हैं, तभी हमें ईश्वर तत्व की कुछ धारणा हो पाती है। यदि बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, चैतन्य महाप्रभु, रामकृष्ण, विवेकानन्द आदि को लोगों ने न देखा होता, उनके चरित्र एवं लीलाओं का ब्यौरा हमारे पास न होता, तो क्या हम ईश्वर तत्व की कोई धारणा कर पाते ? इन्हीं महापुरुषों के माध्यम से हम ईश्वर की धारणा कर उसका अनुभव कर पाते हैं। ये सभी परमज्ञानी होते हैं, ज्ञानस्वरूप होते हैं और इसीलिए भगवान की मानों आत्मा हैं।

ऐसा परम ज्ञान क्या मनुष्य को एक ही जन्म में प्राप्त हो जाता है ? नहीं, ऐसा नहीं है। भगवान यहाँ स्वयं ही कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥७/१९

बहनाम् (बहुत) जन्मनाम् (जन्मों के) अन्ते (बाद) ज्ञानवान (ज्ञानी) सर्वम् वासुदेवः (यह सब कुछ वासुदेव ही है) इति (इस प्रकार) माम् (मुझे) प्रपद्यते (भजता है) सः (वह) महात्मा (महात्मा) सुदुर्लभः (अत्यन्त दुर्लभ है)।

अनेक जन्मों के अन्त में जो तत्त्वज्ञानी, यह समस्त वासुदेव ही है—ऐसा समझकर मेरा भजन करते हैं, ऐसे महात्मा अति दुर्लभ हैं।

यह सब कुछ ईश्वर ही है। वे ही एक ईश्वर विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हो रहे हैं, ऐसा ज्ञान मनुष्य को एक ही जन्म की साधना से नहीं प्राप्त हो जाता। उसके लिए जन्म-जन्मान्तर में कठोर साधना करनी

पड़ती है । अतः किसी व्यक्ति के ऊँचे ज्ञान की तुलना में अपने अल्प ज्ञान को देखकर हमें निराश नहीं होना चाहिए । अपितु हमें यह सोचकर उत्साहित ही होना चाहिए कि दृढ़ संकल्प और साधना के द्वारा हम भी किसी जन्म में ऐसा ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होंगे ।

उस ज्ञान का लक्षण क्या है ? **वासुदेवः सर्वम् इति** ––यह जो कुछ भी है, विश्व-ब्रह्माण्ड––सब कुछ वासुदेव ही है। ऐसी अनुभूति करके उस भाव में प्रतिष्ठित होना ही उस ज्ञान का लक्षणहै । इस विषय में स्वामी विवेकानन्दजी ने एक घटना का उल्लेख किया है। १८५७ ई. के स्वातंत्र्य संग्राम के समय की घटना है। किसी मुसलमान ने एक हिन्दू संन्यासी को छुरा भोंक दिया था । हिन्दू सिपाही उस छुरा भोंकने वाले को पकड़कर ले आए और कहा––"महाराज, इसी ने आपको छुरा भोंका था । आपकी आज्ञा हो तो हम अभी इसका सिर काट डालें ।" उस हिन्दू संन्यासी ने कहा––भाई, मुझे छुरा मारनेवाला भी तो वही ब्रह्म है । यह कहते हुए उन्होंने देह त्याग दिया । सबके भीतर यहाँ तक कि अपने हत्यारे के भीतर भी उसी एक ईश्वर-तत्व के दर्शन करना पूर्ण ज्ञान की स्थिति है । यह बहुत उच्च अवस्था है तथा अनेक जन्मों की साधना से ही प्राप्त होता है । किन्तु आशा की बात यह है कि भले ही इस ज्ञान की प्राप्ति में अनेक जन्म लग जाएँ, तो भी प्रत्येक व्यक्ति इस ज्ञान का अधिकारी है और किसी न किसी जन्म में वह अवश्य ही इसकी उपलब्धि करेगा ।

एक और घटना है श्रीरामकृष्ण जब दक्षिणेश्वर में रहते थे उस समय की। एक दिन उन्होंने देखा कि

एक पागल सा दिखने वाला मैला-कुचैला-घिनौना-सा व्यक्ति काली मन्दिर के प्रांगण में आया। वहाँ कंगालों का भोजन हो रहा था। वह व्यक्ति इतना घिनौना था कि कंगालों मे भी उसे अपने साथ नहीं बैठने दिया। तब वह उस स्थान पर चला गया, जहाँ कुत्ते जूठी पत्तलें चाट रहे थे। वह भी उन कुत्तों के साथ जूठन खाने लगा। श्रीरामकृष्णदेव ने जब उसे देखा तो वे तुरन्त समझ गए कि यह व्यक्ति साधारण पागल नहीं है अपितु यह तो ज्ञानोन्मादी है। उनके मन में भय हुआ कि कहीं मेरी भी ऐसी अवस्था तो नहीं हो जाएगी। उन्होंने अपने भानजे हृदयराम को बुलाकर कहा कि देख यह ब्रह्मज्ञानी है, इससे कुछ पूछ। वह ज्ञानोन्मादी वापस जाने लगा हृदयराम भी उसके पीछे हो लिये। जाते-जाते उसने हृदयराम को बताया—'जब नाले के पानी और गंगाजल में कोई भेद न दिखे तब समझना कि ज्ञान हुआ है।" यह उस परम ज्ञान का एक उदाहरण है जिसमें बोध होता है कि सब कुछ वासुदेव ही हैं। श्रीराम-कृष्ण के अपने जीवन में भी ऐसे अनेक अनुभव हुए थे।

इसके बाद के कुछ श्लोकों में यह बताया गया है कि लोग सीधे भगवान की शरण में न जाकर भिन्न-भिन्न देवताओं की शरण में क्यों जाते हैं? क्यों दूसरे देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। कैसे लोग अनेक प्रकार की छोटी-छोटी कामनाओं को लेकर इन देवताओं की उपासना करते हैं, इन्हीं सब का वर्णन है।

किसी-किसी मत के अनुयाइयों ने अन्य देवी-देवताओं की निन्दा कर, उन पर प्रहार कर एकेश्वरवाद का सिद्धान्त प्रचारित करने का प्रयास किया। किन्तु निंदा

और प्रहार का यह रास्ता उचित नहीं है। इससे वांछित सुधार नहीं हो पाता। भगवान श्रीकृष्ण ने बिना किसी निन्दा-प्रहार के उस एक सत्यस्वरूप परमेश्वर की ओर जाने का अभूतपूर्व उपाय बताया है। और हम अगले प्रवचन में उसी पर चर्चा करेंगे।

□

सुभाषचन्द्र बोस के प्रेरणा-पुरुष: श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द (५)

स्वामी विदेहात्मानन्द

सुभाषबाबू 'तब अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन' के अध्यक्ष थे। ९ जनवरी १९३० को उन्होंने कलकत्ता के हाजरा पार्क में आयोजित एक विशाल आम सभा को सम्बोधित करते हुए श्रमिकों से भी आजादी के संग्राम में सहायता करने का अनुरोध किया। किसानों, मजदूरों तथा नवयुवकों को स्वाधीनता-संघर्ष के लिए प्रेरित एवं संगठित करने का उनका यह कार्य ब्रिटिश सरकार की आँखों में खटकता था। २३ जनवरी १९३० को अपने ३३ वें जन्मदिन पर वे पुन: गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें एक वर्ष कारावास की सजा सुनायी गयी। २५ सितम्बर को उन्हें जेल से मुक्त कर दिया गया। उसी समय कलकत्ता नगर निगम का चुनाव हुआ और नेताजी महापौर (Mayor) निर्वाचित हुए। आगामी वर्ष स्वामी विवेकानन्द के ६९ वें जन्म दिवस के अवसर पर १० जनवरी १९३१ ई की शाम को बेलुड़ मठ में गंगा के तट पर मठ के मुख्य भवन के समक्ष एक आम सभा आयोजित हुई थी। मठ द्वारा आमन्त्रित होकर कलकत्ता के महापौर के रूप में उक्त सभा की अध्यक्षता करते हुए सुभाषबाबू ने जो भाषण किया उसका सार-संक्षेप निम्नलिखित है—

"स्वामी विवेकानन्द के बहुमुखी प्रतिभा की व्याख्या करना बड़ा कठिन है। मेरे समय का छात्रसमुदाय स्वामी जी की रचनाओं और व्याख्यानों से जैसा प्रभावित होता था वैसा और किसी से भी नहीं होता था; वे (स्वामीजी) मानो उनकी आशाओं-आकांक्षाओं को पूर्णरूप से अभिव्यक्त करते थे।

"स्वामीजी का यथार्थ मूल्यांकन करने के लिए उन्हें परमहंसदेव के साथ मिलाकर देखना होगा। वर्तमान स्वाधीनता आन्दोलन की नींव स्वामीजी की वाणी पर ही आश्रित है। भारतवर्ष को यदि स्वाधीन होना है तो उसमें हिन्दुत्व अथवा इसलाम का प्रभुत्व होने से काम न होगा—उसे राष्ट्रीयता के आदर्श से अनुप्राणित कर विभिन्न सम्प्रदायों का सम्मिलित निवासस्थान बनाना होगा। रामकृष्ण-विवेकानन्द की 'धर्मसमन्वय' की वाणी भारतवासियों को सम्पूर्ण हृदय के साथ अपनानी होगी।

"त्याग और चरित्रगठन—स्वामीजी इन दो तत्वों पर बल देते थे। त्याग के बिना कोई भी उपलब्धि सम्भव नहीं। भारत में महापुरुषों का अभाव नहीं है—यहाँ ऐसे अनेक प्रतिभावान लोगों का जन्म हुआ है, जो अन्य देशों के श्रेष्ठतम व्यक्तियों के समतुल्य हैं। परन्तु हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता है जनता को जगाने की, इसीलिए तो स्वामीजी कहा करते थे कि मनुष्य गढ़ना ही मेरा कार्य है। स्वामीजी ने प्राच्य और पाश्चात्य, धर्म और विज्ञान तथा अतीत एवं वर्तमान के बीच समन्वय साधित किया; वे इसी कारण महान् हैं। उनकी शिक्षाओं में हमारे देशवासी अभूतपूर्व आत्म-सम्मान, आत्मविश्वास और आत्म-प्रतिष्ठा का बोध कर रहे हैं।"*

इस सभा के तीन दिन बाद ही कुष्टिया छात्र समिति द्वारा प्रदत्त मानपत्र के उत्तर में १३ जनवरी को सुभाषबाबू ने कहा—"जीवन में हम केवल देते जाएँगे, (बदले में) कुछ चाहेंगे नहीं। जो नाम नहीं चाहता, यश नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता, उसे भला दुःख कैसा? हम

* उद्बोधन (बंगला मासिक) वर्ष ३३, संख्या २, पृ. ७०

लोग जब किसी से कुछ आशा रखते हैं और उसे पाते नहीं—तभी हमारे जीवन में दुःख आता है। स्वामीजी कहते थे, 'जो प्रतिदान की आशा रखता है, उसका सिन्धु बिन्दु हो जाता है'।" †

फिर उसी वर्ष १८ अक्टूबर को एक अन्य व्याख्यान के दौरान उन्होंने कहा था—"अन्य जिस चीज की हमें सर्वाधिक जरूरत है, वह है एक साथ मिलकर काम करने की क्षमता। एकता में ही शक्ति है और जब तक हम एक साथ काम करना नहीं सीखेंगे, तब तक आवश्यकतानुसार कुछ कर नहीं सकेंगे। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि हम भारतवासी आत्मशक्ति में विश्वास खो बैठे हैं और इसीलिए हम कुछ भला या महत् कार्य नहीं कर पाते। वस्तुतः यही हमारा एक शोचनीय दोष है।"*

कांग्रेस की नयी कार्यकारिणी समिति में सुभाषबाबू को सम्मिलित नहीं किया जा रहा था और इसी विषय पर चर्चा करने के हेतु गांधीजी ने उन्हें बम्बई बुलाया। बातचीत के बाद कलकत्ता लौटते समय २ जनवरी १९३२ ई को उन्हें कल्याण स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिया गया और बिना कोई आरोप लगाये ही मध्यप्रदेश के सिवनी जेल में रखा गया। वहीं से ६ मई को नेताजी ने पूना के 'मराठा' संवादपत्र के सम्पादकीय विभाग के श्री ए. आर. भट्ट के नाम एक पत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने स्वामीजी के बारे में अपने विचार थोड़े विस्तार के साथ व्यक्त किये थे। उस पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

† सुभाष रचनावली (बंगला), भाग-२, पृ. ५८

* वही, पृ. १७०

"आपने . . .स्वामी विवेकानन्द के बारे में जो कुछ लिखा है, वह बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। वस्तुतः स्वामीजी के व्यक्तिगत पत्र तथा वार्तालाप जो अब व्यवस्थित रूप से प्रकाशित हो चुके हैं, न केवल रोचक हैं अपितु उनके सार्वजनिक व्याख्यानों तथा लिखित पुस्तकों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रेरणादायी हैं। स्वामीजी के बारे में कुछ लिखते समय मैं आनन्दविभोर हुए बिना नहीं रह पाता। जिन लोगों को उनके साथ घनिष्ठतापूर्वक मिलने-जुलने का सौभाग्य हुआ, उनमें भी शायद ही कोई कोई उन्हें यथार्थ रूप से समझ सके और उनकी गम्भीरता की थाह पा सके। उनका व्यक्तित्व समृद्ध, गहन और बहुमुखी था, जो उनके उपदेशों और लेखों से भी विलक्षण था और उनके इसी व्यक्तित्व ने उनके स्वदेशवासियों पर अद्भुत प्रभाव विस्तार किया था . . .। वे अपने त्याग में असंयमित, कर्म में अनथक, प्रेम में असीम, विद्याबुद्धि में गहन एवं बहुमुखी, भावुकता में अतिरेकी तथा संघर्ष में निर्मम थे और इसके बावजूद वे एक शिशु के समान सरल थे। हमारे इस जगत में उनके जैसा व्यक्तित्व दुर्लभ है। और भगिनी निवेदिता ने अपनी पुस्तक The Master as I saw him (मेरे गुरुदेव : जैसा मैंने देखा) में लिखा है, 'उनके आराधना की देवी उनकी मातृभूमि थी।' क्या आपने उनके पत्रों में पुरोहितों, उच्च जातियों तथा अभिजात वर्गों के प्रति उनकी भर्त्सना पढ़ी है? एक विशुद्ध समाजवादी भी शायद ही इतना कर सके।

"आध्यात्मिक ढोंग का तो स्वामीजी में नाम तक न था। यह चीज उन्हें बिल्कुल असह्य थी। प्रच्छन्न धार्मिकों से वे कहा करते थे, 'मुक्ति गीता के द्वारा नहीं

फुटबाल खेलने से आएगी।' वेदान्ती होकर भी वे भगवान बुद्ध के बड़े भक्त थे। एक दिन वे अत्यन्त उत्साहपूर्वक बुद्धदेव के बारे में बोल रहे थे कि बीच में ही कोई पूछ उठा, 'स्वामीजी, क्या आप बौद्ध हैं?' सुनते ही स्वामीजी के मन में भावुकता उमड़ आयी और वे रुंधे कण्ठ से कह उठे. 'क्या? मैं! एक बौद्ध! मैं बुद्ध के दासों के दासों का भी दास हूँ।' भगवान बुद्ध का प्रसंग आते ही वे अत्यन्त विनम्र हो जाते थे। वे प्रायः कहा करते थे, 'शंकराचार्य की मेधा और बुद्धदेव का हृदय'—इसी को हमें अपना लक्ष्य बनाना होगा। इसी प्रकार जब एक बार वे ईसा मसीह पर व्याख्यान दे रहे थे, तो किसी के प्रश्न करने पर वे गम्भीर हो उठे और फिर अपनी मधुर वाणी में बोले. 'यदि मैं नाजरथ के ईसा के समय उपस्थित होता, होता. तो अपने आँसुओं से नहीं, वरन् अपने हृदय के रुधिर से उनके चरण पखारता।'

"अपने दीन-दुखी स्वदेशवासियों के प्रति उनका प्रेम सागरसम अथाह था। आपको उनका वह सन्देश स्मरण ही होगा—'कहो बन्धुओ! नग्न भारतवासी, अपढ़ भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी मेरा भाई है।...जोर से पुकार कर कहो कि भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है; और रात-दिन कहते रहो—हे गौरीनाथ! हे जगदम्बे! मेरी दुर्बलता और कापुरुषता को दूर कर दो, माँ! मुझे मनुष्य बनाओ!'

"स्वामीजी पूर्ण विकसित पौरुष से सम्पन्न थे, उनके रग-रग में योद्धापन भरा था। इसीलिए वे शक्ति के उपासक थे और यही कारण है कि उन्होंने अपने देश-वासियों का उत्थान करने के लिए वेदान्त की एक नवीन

व्यावहारिक व्याख्या दी। वे सदैव कहा करते थे, 'शक्ति, केवल शक्ति ही उपनिषदों का सन्देश है।' उन्होंने चरित्र निर्माण पर सर्वाधिक बल दिया था।

"वे इतने महान्, गहन और बहुमुखी थे कि मैं घण्टों तक लिखकर भी इन महापुरुष की महिमा के प्रति तनिक भी न्याय न कर सकूँगा। वे विश्व के प्रथम ऐसे सर्वोच्च स्तर के योगी थे, जिन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार करने के बाद भी स्वदेश एवं मानवता के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया था। आज यदि वे जीवित होते, तो मैं उनके चरणों में होता। जहाँ तक मेरा खयाल है वर्तमान भारत उन्हीं की कृति है।

"स्वामी दयानन्द या आर्यसमाजियों की पद्धति का संगठनात्मक कार्य करने की स्वामीजी में न तो इच्छा थी और न उन्होंने इसके लिए प्रयास ही किया। सम्भव है यह उनका दोष हो, पर वे स्वगत में कहा करते थे, 'मनुष्य निर्माण करना ही मेरा लक्ष्य है।' वे जानते थे कि देश में यदि सच्चे महापुरुषों का विकास हो गया तो संगटन का कार्य बात की बात में हो जाएगा। अत्यन्त परिश्रमपूर्वक उन्होंने अपने शिष्यों को गढ़ा परन्तु कभी उन्होंने उन लोगों की व्यक्तिगत विशेषताओं को कुण्ठित करने अथवा उनकी स्वाधीन चिन्तन की धारा को अवरुद्ध करने का प्रयास नहीं किया। इसी कारण वे अपने किसी भी शिष्य को लम्बी अवधि तक अपने पास नहीं रखते थे। वे कहते थे कि एक बड़े वृक्ष की छाया में दूसरा बड़ा वृक्ष नहीं पनप सकता। कैसा विरोधाभास है—परवर्ती काल के हमारे कुछ महापुरुष स्वाधीन विचारधारा को सहन तक नहीं

कर पाते; वे चाहते हैं कि हम अपनी बुद्धि को उनके चरणों में गिरवी रख दें और अपने लिए सब कुछ सोचने का अधिकार उन्हीं को दे दें।"*

इसके कुछ काल बाद की (१९३३?) अपनी एक अन्य रचना 'दलबन्दी दूर हो' में नेताजी ने लिखा है—"आजकल की आम जनता और विशेषकर युवा समाज में एक प्रकार का ओछापन और विलासप्रियता का भाव प्रविष्ट हो रहा है—जबकि आजकल हमारे देश की आर्थिक अवस्था पूर्वापेक्षा शोचनीय हो चुकी है। क्या यह बात सच है? यदि हाँ, तो फिर इसका कारण क्या है? हम लोग जब छात्र थे, तो उन दिनों छात्र-समाज में 'रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य' का खूब प्रचार था। आजकल लगता है युवा समाज में उस साहित्य का वैसा प्रचार नहीं रह गया है। बल्कि उसके बदले शायद हल्के-फुल्के और बीच-बीच में अश्लीलतापूर्ण साहित्य का खूब प्रचार होता रहा है। क्या यह बात सत्य है? यदि ऐसा ही हो, तो फिर यह अत्यन्त दुःख की बात है, क्योंकि मनुष्य समाज जैसे साहित्य से पुष्ट होता है उसकी वैसी ही मनोवृत्ति भी गठित हो जाती है। चरित्रनिर्माण की दृष्टि से 'रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य' की अपेक्षा उत्कृष्ट साहित्य की मैं कल्पना तक नहीं कर सकता।"†

(अगले अंक में समाप्य)

* Prabuddha Bharata, July 1932, Pp. 351-353.

† सुभाष रचनावली (बंगला) भाग ४, पृ. ३०५

क्या वैज्ञानिक प्रवृत्ति सम्पन्न होते हुए आध्यात्मिक होना सम्भव है ? (६)

स्वामी बुधानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक रामकृष्ण मठ-मिशन के विशिष्ट संन्यासियों में थे। वे अपने सेवा-काल में अद्वैत आश्रम, मायावती के अध्यक्ष रह चुके थे और अन्त में रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली के प्रमुख थे। उन्होंने बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'मन और उसका निग्रह' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रस्तुत लेखमाला उनकी एक दूसरी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'Can one be Scientific and yet Spiritual' का हिन्दी रूपान्तर है। रूपान्तरकार स्वामी ब्रह्मेशानन्द, सम्प्रति रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कार्यरत हैं। —स.)

१४. श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक प्रयोगशाला से प्राप्त विवरण

केवल सर्वग्राही तीव्र भक्ति के द्वारा जगदम्बा का एक तरह से साक्षात्कार करने के बाद श्रीरामकृष्ण ने भैरवी ब्राह्मणी नामक एक असाधारण संन्यासिनी के मार्गदर्शन में प्रायोगिक रूप से तन्त्रों की साधनाएँ कीं। भैरवी ब्राह्मणी ने सभी साधनोपयोगी आवश्यक सामग्री इकट्ठा करने के बाद श्रीरामकृष्ण को उन पेंचीदी तान्त्रिक उपासनाओं की विधि सिखायी तथा उन्हें शास्त्रों में वर्णित आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हुईं। यह विश्व के आध्यात्मिक इतिहास की अत्यद्भुत घटनाओं में अन्यतम है।

कई बार शास्त्रज्ञ पण्डितों ने आकर श्रीरामकृष्ण को बताया कि उन्होंने शास्त्रों में जो कुछ पढ़ा है, उनका सत्यापन वे उनकी अनुभूतियों में पाते हैं।[1] दूसरे शब्दों में

---

१. श्रीरामकृष्णदेव के साधनाकालीन तीन विशिष्ट अवसरों पर तीन विशिष्ट विद्वान् उनके पास पधारे थे तथा उनकी आध्यात्मिक स्थिति को अपनी आँखों से देखकर उन लोगों को इस विषय पर चर्चा

श्रीरामकृष्ण के जीवन में धर्म मानो एक प्रयोगशाला में परीक्षित एवं सत्यापित हो रहा था। उनकी अद्वैत वेदान्त साधना का वर्णन एक शोध छात्र द्वारा किसी विशेषज्ञ प्रशिक्षक के मार्गदर्शन में किये गये एक कठिन प्रयोग के विवरण जैसा लगता है। इसमें प्रारम्भिक कठिनाइयाँ कुछ समय के लिए उन्हें अभिभूत कर देती हैं पर उसके बाद वे शीघ्र ही पूर्ण सफलता पाकर अपने गुरुदेव को अचम्भे में डाल देते हैं।

यह प्रयोग कलकत्ता के निकट स्थित दक्षिणेश्वर मन्दिर के उद्यान में बने एक छोटे से कमरे में सम्पन्न हुआ।

करने का सुयोग मिला था। तन्त्र साधना में श्रीरामकृष्णदेव के सिद्ध होने के पश्चात् पण्डित पद्मलोचन ने उनका दर्शन किया था— वैष्णव तन्त्रोक्त साधना में उनके सिद्ध होने के बाद पण्डित वैष्णवचरण की उनसे भेंट हुई थी तथा साधना की समाप्ति के उपरान्त गौरी पण्डित दिव्य साधन श्रीसम्पन्न श्रीरामकृष्णदेव से मिलकर कृतार्थ हुए थे। पद्मलोचन ने श्रीरामकृष्णदेव को देखकर कहा था, "मैं आपके अन्दर ईश्वरी आर्विभाव तथा शक्ति का अनुभव कर रहा हूँ।" वैष्णवचरण ने संस्कृत भाषा में स्तव रचनाकर भावाविष्ट श्रीरामकृष्णदेव के समक्ष उनके अवतारत्व का कीर्तन किया था। श्रीरामकृष्ण को देखकर गौरी पण्डित ने कहा था, "शास्त्रों में जिन उच्च आध्यात्मिक अवस्थाओं की बातों का मैंने अध्ययन किया है, वे सभी आपमें साक्षात् विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त शास्त्रों में जो लिपिबद्ध नहीं हैं, ऐसी उच्च अवस्थाएँ भी मैं आपके अन्दर देख रहा हूँ।.... आपकी स्थिति वेद-वेदान्तादि शास्त्रों को अतिक्रम कर बहुत आगे बढ़ चुकी है। आप मनुष्य नहीं हैं, जिनसे अवतारों की उत्पत्ति होती है, वही वस्तु आपमें है!" श्रीरामकृष्णदेव के अलौकिक जीवन-वृतान्त तथा पूर्वोक्त अपूर्व उपलब्धियों के विश्लेषण से यह विशेष रूप से हृदयंगम होता है कि उन पण्डिताग्रगण्य साधकों ने व्यर्थ ही उनकी प्रशंसा कर उपरोक्त बातें नहीं कही थीं। (द्रष्टव्य : स्वामी सारदानन्द कृत, 'श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग', प्रथम खंड, पृष्ठ ४४४-४४५)

वह कक्ष आज भी विद्यमान है। कठोर गुरु तोतापुरी ने उसका द्वार बन्द करके शिष्य को समस्त दृश्य पदार्थों से मन को हटाकर आत्मा पर केन्द्रित करने को कहा। लेकिन प्रथम प्रयास में श्रीरामकृष्ण यह नहीं कर पाये। वे अन्य सभी जागतिक पदार्थों से मन को हटा पाने पर भी, आनन्द-मयी माँ जगदम्बा, जिनकी पूजा उन्होंने सम्पूर्ण भक्ति-प्रेम के साथ इतने वर्षों तक की थी, उनके मनःचक्षुओं के सामने बारम्बार भासने लगीं। तोतापुरी अपने शिष्य की इस असफलता पर कुपित हो उठे। कमरे में पड़े काँच के एक टुकड़े को उठाकर अपने शिष्य के भ्रूमध्य में चुभोते हुए उन्होंने कहा, "इस बिन्दु पर अपने मन को केन्द्रित करो।" यह इलाज कारगर सिद्ध हुआ। बाद में श्रीराम-कृष्ण ने बताया था कि, इसके बाद जगदम्बा के उदित होने पर उन्होंने उसे ज्ञान-खड्ग से काट डाला। तब उनका मन ईश्वर के साकार भाव की चेतना से मुक्त होकर निर्विकल्प समाधि में लीन हो गया। इस अवस्था में उन्होंने वेदान्त के ब्रह्मात्मैकत्व सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित आत्मा और ब्रह्म के एकत्व के महान समीकरण 'अयमात्मा ब्रह्म' की अनुभूति की। यह समाधि तीन दिन तक बनी रही। इसे देखकर गुरु को विश्वास करना पड़ा और उनके आश्चर्य की सीमा न रही। क्योंकि उन्हें स्वयं इस अनुभूति को प्राप्त करने में चालीस वर्ष लगे थे।[२]

यहाँ पर भी हम उसी अनुभूति की प्रायोगिक स्तर पर पुनरावृत्ति होते देखते हैं। एक अन्य आत्मज्ञानी वैज्ञा-निक ने तत्काल ही इसे पहचान लिया।

---

२. द्रष्टव्य—वही, स्वामी सारदानन्द, पृष्ठ ३७१-७२।

श्रीरामकृष्ण अब संन्यासी हो चुके थे। जिन दिनों वे इन प्रयगों में डूबे हुए थे, उनकी युवा पत्नी सारदा भी दक्षिणेश्वर आ पहुँचीं। ईश्वरानुसन्धान की उन्मत्तता में श्रीरामकृष्ण उन्हें लगभग भूल ही चुके थे। गुरु तोतापुरी जी ने कहा कि अपनी पत्नी के साथ अविचलित भाव से रह पाने पर ही यह सिद्ध होगा कि उन्होंने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है। अतः श्रीरामकृष्ण अपने जीवन के सबसे कठिन प्रयोग के लिए मानो छुरे की धार पर चलने को अग्रसर हुए और इस परीक्षा में बेदाग उत्तीर्ण हुए। श्रीरामकृष्ण एवं श्रीसारदादेवी एक ही शय्या पर महीनों सोये और सदा वे एक संन्यासी एवं सारदा एक पवित्र कुमारी बनी रहीं। एक दिन श्रीरामकृष्ण ने अपनी पत्नी को निकट ही सोते देखकर अपने मन से कहा, "रे मन, इसी का नाम स्त्री-शरीर है, लोग इसे परम भोग्य वस्तु समझते हैं तथा निरन्तर भोग करने के लिए लालायित रहते हैं; किन्तु इसे ग्रहण करने से देह में ही आबद्ध हो जाना पड़ता है, सच्चिदानन्द ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। रे मन, अपनी भावनाओं को छिपाने का प्रयत्न मत करो... सच बताओ कि तुम इसे ग्रहण करना चाहते हो या ईश्वर को ? यदि स्त्री-शरीर चाहते हो, तो वह तुम्हारे पास ही पड़ा है, इसे ग्रहण करो।"[३]

इस प्रश्न के उत्तर में उनका पवित्र मन एक ऐसी गहरी समाधि में डूब गया, जो सारी रात बनी रही। दूसरे दिन बहुत कठिनाई से उन्हें सामान्य चेतना के स्तर पर लाया गया।

३. वही, पृष्ठ ४२८-२९

श्रीरामकृष्ण के धर्म एवं ईश्वर सम्बन्धी प्रयोग हिन्दू शास्त्रों की सीमाओं में ही आबद्ध नहीं रहे। हिन्दू धर्म द्वारा प्रतिपादित मूलभूत सत्यों के सन्तोषप्रद प्रमाण प्राप्त करने के बाद वे अन्य धर्मों द्वारा बतायी गयी पद्धतियों एवं साधनाओं द्वारा ईश्वर के प्रयोग में प्रवृत्त हुए। आत्म-जगत् के इस साहसिक अभियान में हमें एक ऐसी वैज्ञानिक मनोवृत्ति का परिचय मिलता है जो सामान्यत. धर्माचार्यों अथवा साधकों के जीवन में बहुत कम दीख पड़ता है। उन्होंने इस्लाम की विधिवत दीक्षा ग्रहण की; उसके अनुयाइयों के लिए निर्धारित नियमों एवं साधनाओं का अनुष्ठान किया तथा तदनुरूप आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त कीं।[४] फिर ईसा मसीह ने सहज ही समग्र रूप में उन्हें दर्शन दिया।[५] अत: उनके परवर्ती जीवन की यह उक्ति प्रायोगिक परिणामों का वैज्ञानिक वक्तव्य ही है—

"सब मत ही उनके रास्ते हैं, पर मत कभी ईश्वर नहीं है। बात यह है कि आन्तरिक भक्ति के द्वारा एक मत का आश्रय लेने पर उनके पास तक पहुँचा जाता है।"[६] उनके सभी आध्यात्मिक उपदेश जीवन की प्रयोगशाला में किये गये निरीक्षण, प्रयोग एवं प्राप्त परिणामों पर ही आधारित थे।[७]

---

४. द्रष्टव्य : पूर्वोल्लेखित, पृष्ठ ३८३-८४

५. द्रष्टव्य : पूर्वोल्लेखित, पृष्ठ ४३६-३७

६. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, 'श्रीम' कथित, द्वि.भा. १९८३, पृष्ठ ३५८।

७. श्रीरामकृष्ण के ईश्वर विषयक प्रयोगों और उन्हें प्राप्त अनुभूतियों का विवरण उन्हीं के शब्दों में उपलब्ध है। यहाँ उनके निष्कर्षों का कुछ अंश उद्धृत किया जा रहा है। उन्होंने बताया था—

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण भारतीय प्रज्ञा के पुरातन पथ पर ही चले थे, न कि उन्होंने किसी नये पथ का प्रवर्तन

"मुझे एक बार सब धर्म करने पड़े थे—हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान; इधर शाक्त, वैष्णव, वेदान्त—इन सब रास्तों से भी आना पड़ा है। ईश्वर वही एक हैं—उन्हीं की ओर सब चल रहे हैं भिन्न-भिन्न मार्गों से। (वही, प्रथम भाग, १९८०, पृष्ठ ११६।)

"उन्होंने मुझसे अनेक प्रकार की साधनाएँ करायीं। पहली पुराण मत की थी, फिर तन्त्र मत की थी, इसके बाद वाली वेद मत की थी। पहले मैं पंचवटी में साधना करता था। वहाँ तुलसी-वन लगाया गया, मैं उसके भीतर बैठकर ध्यान करता था। कभी-कभी विकल होकर 'माँ-माँ' कहकर पुकारता था, कभी-कभी 'राम-राम' कहता था।

"जब राम-राम कहता था, तब हनुमान के भाव में आकर एक पूंछ लगाकर बैठा रहता था—उन्माद की अवस्था थी। उस समय पूजा करते हुए मैं पीताम्बर पहनता था तो बड़ा आनन्द आता था। वह पूजा का ही आनन्द था।

"तन्त्र मत की साधना बेल के नीचे की थी। तब तुलसी का पेड़ और सहजन की फली ये एक जैसे जान पड़ते थे। उस अवस्था में शिवानी की जूठन तमाम रात पड़ी रहती थी, साँप खाता था या कौन खाता था इसका कुछ ख्याल न था। वही जूठन मैं खाता था।

"कभी-कभी मैं कुत्ते पर चढ़कर उसे पूड़ियाँ खिलाता और उसकी जूठी पूड़ियाँ खुद खाता था। सर्वविष्णुमयं जगत्। अविद्या का नाश बिना किये न होगा। इसलिए मैं बाघ बन जाता था और अविद्या को खा जाता था।

"वेद मत से साधना करते समय संन्यास लिया। उस समय चाँदनी में पड़ा रहता था। हृदय से कहता—मैंने संन्यास लिया है, मेरे लिए चाँदनी में खाने को दे जाया करो।

"धरना दिया था। पड़ा हुआ मैं माँ से कहता था—मैं मूर्ख हूँ, तुम मुझे बतला दो—वेदों, पुराणों, तन्त्रों और शास्त्रों में क्या है? माँ ने कहा, वेदान्त का सार है ब्रह्म, उसी को सत्य और संसार को मिथ्या माना है। जिस सच्चिदानन्द ब्रह्म की बात वेदों में है, उन्हें

किया। भारत की मूलभूत परम्परा के अनुसार गुरु से शिक्षा प्राप्त करने के बाद शिष्य से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह स्वयं ही आत्मा अथवा ईश्वर का दर्शन प्राप्त करने के लिए अन्तर्मुख हो जाए। व्यक्तिगत अनुभूति

तन्त्रों में 'सच्चिदानन्दः शिवः' कहते हैं। और पुराणों में उन्हें ही 'सच्चिदानन्दः कृष्णः' कहते हैं।

"दस बार गीता का उच्चारण करने पर जो कुछ होता है, वही गीता का सार है। अर्थात् त्यागी-त्यागी।

"उन्हें जब कोई प्राप्त कर लेता है, तब वेद, वेदान्त, पुराण, तन्त्र, सब इतने नीचे पड़े रहते हैं कि कुछ कहना ही नहीं। (हाजरा से) ओम् का भी उच्चारण नहीं किया जा सकता; समाधि से जब मैं बहुत नीचे उतर आता हूँ, तब कहीं जरूर ओम का उच्चारण कर सकता हूँ।

"प्रत्यक्ष दर्शन के पश्चात् जो जो अवस्थाएँ शास्त्रों में लिखी हैं, वे सब मुझे हुई थीं। बालवत्, उन्मत्तवत्, पिशाचवत्, जड़वत्। और शास्त्रों में जैसा लिखा है, वैसा दर्शन भी होता था। कभी देखता था, तमाम संसार जलता हुआ अंगार है। कभी देखता था, चारों ओर पारे जैसा सरोवर झिलमिल-झिलमिल कर रहा है। और कभी गली हुई चाँदी की तरह देखता था। कभी देखता था मानो मसाले वाली सलाई का चारों ओर उजाला हो रहा है। इनसे शास्त्रों की बातें मिल जाती हैं। फिर दिखलाया वे ही जीव हैं, वे ही जगत् हैं और चौबीसों तत्त्व भी वे ही हुए हैं। छत पर चढ़ कर फिर सीढ़ियों से उतरना—अनुलोम और विलोम।

"उः! किस अवस्था में उसने रखा है—एक अवस्था जाती है, तो दूसरी आती है। जैसे ढेकी के वार। एक ओर नीचा होता है तो दूसरी ओर ऊँचा हो जाता है।

"जब अन्तर्मुख होकर समाधिलीन हो जाता हूँ तब भी देखता हूँ, वे ही हैं; और जब बाहरी संसार में मन आता है, तब भी देखता हूँ, वे ही हैं। जब आईने के इस ओर देखता हूँ, तब भी वे ही हैं, और जब उस ओर देखता हूँ तब भी वे ही हैं।" (द्रष्टव्य– श्रीरामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, १९८३ पृष्ठ ३२९-३२।)

को सत्य का एक सबसे सुसंगत एवं विश्वसनीय प्रमाण माना जाता था। यह आध्यात्मिक प्रत्यक्षानुभववाद[८] (Spiritual empiricism) वैदिक काल से आज तक हजारों वर्षों के दौरान भारतीय आध्यात्मिक खोज एवं गवेषणा का एक सबल वैशिष्ट्य रहा है। भारत में महान् सन्तों की परम्परा को अबाध बनाए रखने में यह भी एक कारण है। यह परम्परा जो भारत से कभी लुप्त नहीं हुई थी, श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव से अत्यन्त सबल हो उठी है।

बाद में जब उनके शिष्यों का आगमन होने लगा, जिनमें से कुछ अपना वैज्ञानिक पूर्वाग्रह छिपाते नहीं थे, तब श्रीरामकृष्ण ने उनकी अस्फुट चुनौतियों को बड़े ही सहज भाव से स्वीकार किया। और वैज्ञानिक कहलाने वाली पद्धति की उपयोगिता के प्रति असन्दिग्ध होने के कारण वे वैज्ञानिक मनोवृत्ति पोषण करनेवालों के प्रति अप्रसन्न नहीं होते थे, बल्कि उन्हें प्रोत्साहित ही करते थे।

---

८ प्रत्यक्षानुभववाद—अर्थात् आओ और प्रत्यक्ष देखो की मनोवृत्ति, जो वैदिक काल से अब तक भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की एक महत्वपूर्ण विशेषता रही है।

निम्नलिखित तीन सन्दर्भों का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि आध्यात्मिक अनुसन्धान के लिए वैज्ञानिक मनोवृत्ति तथा प्रणाली कितनी उपयुक्त है।

(१) छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ६, श्लोक ५, ७, १२, १३

(२) अंगुत्तरनिकाय, खण्ड १, एफ. एल. वुडवर्ड द्वारा अनुवादित; पाली ग्रन्थ समिति के लिए ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित १९३२, पृष्ठ १७०-७५

(३) Talks with Sri Raman Maharshi, श्री रमणाश्रमम् तिरुवन्नमलाई, दक्षिण भारत, १९५८, पृष्ठ ३६५-३७०)

एक दिन एक आगन्तुक श्रीरामकृष्ण की किसी बात को न मानकर उनके साथ बहस कर रहा था। इस पर एक भक्त ने आगन्तुक से सात्त्विक रोष के साथ कहा, "ये जो कुछ कहते हैं, आप मान लीजिये।" श्रीरामकृष्ण ने भक्त की ओर उन्मख होकर अप्रसन्नतापूर्वक कहा, "तुम कैसे आदमी हो जी? बात पर विश्वास न करके सिर्फ मान लेना। कपट-आचरण! देखता हूँ, तुम ढोंग करने वाले हो।"[९]

'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के लेखक श्री महेन्द्रनाथ गुप्त एक प्रत्यक्षदर्शी के रूप में श्रीरामकृष्ण के भगवत्-साक्षात्कार की आश्चर्यजनक घटना का विवरण देते हुए कहते हैं—

"आध्यात्मिक साधना की सुसंगतता एवं यथार्थता का यह प्रमाण है : भगवान को देखना और उनके साथ वार्तालाप करना—इसी में साधन-भजन की परीक्षा (test) है। केवल आँखें बन्द करके यह कहने से काम नहीं चलेगा कि मैंने भगवद्दर्शन किया है। दर्शन, स्पर्शन तथा उनके साथ बातचीत भी होनी चाहिए। श्रीरामकृष्ण कमरे भर लोगों के सामने जगदम्बा के साथ वार्तालाप करते थे। वे शपथ लेकर कहते, 'सत्य कहता हूँ, माँ आयी हैं।' एक तरफ की बातें सभी सुन पाते थे। यह सचमुच अद्भुत घटना थी। ऐसा उन्होंने क्यों किया? वे कोई ढोंग नहीं कर रहे थे। ऐसे लोग भी हैं जो (सन्दिग्ध आधारों पर) स्वयं अथवा दूसरों के नाम पर भगवद्दर्शन का दावा करते हैं। इसलिए वे सब स्पष्ट रूप से बता गये। इस अविश्वास के युग में जहाँ तक संभव था, वे दिखा गये

९. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४८७

हैं। वह मानो public demonstration of God (ईश्वर का सार्वजनिक प्रदर्शन) था, लोगों की आँखों के सामने रखकर उन्हें ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास कराना था। उनका कमरा लोगों से भरा हुआ है। वह भी कैसे लोगों से ? उनमें प्राय: सब के सब modern sceptical outlook (आधुनिक संशयवादी दृष्टिकोण) के हैं, जैसा कि अंग्रेजी शिक्षा के फल से होता है। ऐसे लोग जल्दी विश्वास करना नहीं चाहते। इसीलिए उन्हें इस तरह की परीक्षा देनी पड़ी। ताकि किसी प्रकार के बौद्धिक शंका के लिए स्थान न रह जाय। इसीलिए तो डिगवी ने कहा कहा है, ' He revealed God to weary travellers.' (उन्होंने परिश्रान्त पथिकों के लिए भगवान को प्रकट किया) उन्होंने राह चलते सामान्य व्यक्ति के लिए भी भगवान को प्रकट किया।[१०]

(क्रमश:)

प्रकृति की यह सब परिवर्तन-क्रिया आत्मा के विकास के हेतु है। सम्पूर्ण प्रकृति ही वह पुस्तक है, जिसे आत्मा पढ़ रही है।

—स्वामी विवेकानन्द

१०. स्वामी नित्यात्मानन्द कृत बंगाली पुस्तक 'श्री म दर्शन', द्वितीय भाग, प्रथम संस्करण (बंगाब्द १३७०) पृष्ठ ४३

माया लोगे या मायाधीश !

स्वामी सत्यरूपानन्द

बारह वर्ष तक वनवास के कष्ट भोगने के पश्चात् पाण्डवों की कठिन परीक्षा का—अज्ञातवास का तेरहवाँ वर्ष भी समाप्त हो गया। महाराज विराट को महावीर पाण्डवों का परिचय मिला और तदुपरान्त उन्होंने सानन्द अपनी कन्या उत्तरा का विवाह अभिमन्यु के साथ निश्चित कर दिया।

इस विवाह में सम्मिलित होने के लिये भारत के विभिन्न अंचलों से अनेक राजा-महाराजा पधारे। भगवान कृष्ण भी अपने अग्रज बलराम के साथ इस उत्सव में भाग लेने आये। विवाह के दूसरे दिन सभी राजा-महाराजा महाराज विराट की सभा में उपस्थित थे। भगवान कृष्ण ने राजाओं की उस सभा में कौरवों के अन्याय तथा पाण्डवों के धर्म और न्याय-परायणता की बात सबके सामने रखी। विचार-विमर्श के पश्चात् यह निष्कर्ष निकला कि कौरवों के अन्याय को रोकने का युद्ध के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। यह निश्चित हो जाने के पश्चात् यह भी तय हुआ कि पाण्डव अपने पक्ष से युद्ध का निमन्त्रण लेकर विभिन्न राजाओं के पास दूत भेजें। विवाहोत्सव की समाप्ति पर सभी राजा अपनी-अपनी राजधानी को लौट गये। भगवान कृष्ण भी वापस द्वारका चले आये।

इधर दुर्योधन को अपने गुप्तचरों से पाण्डवों के द्वारा सभी राजाओं के पास युद्ध का निमन्त्रण भेजे जाने का समाचार मिला। अतः दुर्योधन ने भी इसी उद्देश्य से चारों ओर अपने दूत भेज दिये। कौरव तथा पाण्डव दोनों यह जानते थे कि युद्ध में जय-पराजय इस बात पर निर्भर

करेगा कि वासुदेव कृष्ण किसका पक्ष लेते हैं। श्रीकृष्ण जिनके पक्ष में होंगे, विजय उन्हीं की होगी।

उस युग में क्षत्रीय राजाओं के बीच ऐसी प्रथा थी कि जब कभी युद्ध होता तो दोनों पक्षों में से जो भी अपनी ओर से युद्ध करने का निमन्त्रण पहले भेजता, निमन्त्रण पानेवाले राजा को उसी पक्ष की ओर से युद्ध करना पड़ता था, फिर विपक्षी चाहे उसका मित्र या सम्बन्धी ही क्यों न हो।

वासुदेव कृष्ण अपने काल के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्ति थे और साथ ही वे पाण्डवों के प्रिय सखा, हितैषी तथा मार्गदर्शक थे। अतः युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा कि वे स्वयं ही जाकर कृष्ण को युद्ध में साथ देने का अनुरोध करें।

उधर दुर्योधन भी यह जानता था कि पाण्डव स्वयं कृष्ण के पास निमन्त्रण देने जायेंगे। अतः उसने भी स्वयं कृष्ण के पास युद्ध का निमन्त्रण लेकर जाने का निश्चय किया। इधर से अर्जुन और उधर से दुर्योधन दोनों द्वारका की ओर चल पड़े। संयोगवश दोनों एक ही साथ द्वारका पहुंचे। उस समय भगवान कृष्ण सो रहे थे। पहले दुर्योधन ने उनके शयन-कक्ष में प्रवेश किया। उसने देखा कि कृष्ण अभी सो रहे हैं और उनके सिरहाने की ओर एक सुन्दर सिंहासन रखा है। वह उसी पर बैठ गया। अर्जुन ने भी शयन-कक्ष में प्रवेश किया। भगवान कृष्ण को सोते देखकर वह हाथ जोडकर भगवान के चरणों की ओर खड़ा हो गया। दोनों ही उनके जागने की प्रतीक्षा करने लगे।

थोड़ी देर बाद भगवान की नींद खुली। सर्वप्रथम उनकी दृष्टि अर्जुन पर पड़ी। उन्होंने देखा कि अर्जुन

बद्धाञ्जलि-विनम्र भाव से सामने खड़ा है। इसके पश्चात् उनकी दृष्टि दुर्योधन पर गयी। भगवान ने दोनों का उचित आदर-सत्कार किया तथा उनके आगमन का कारण पूछा।

उत्तर दुर्योधन ने ही दिया। भोगवाद, स्वार्थ और अहंकार मनुष्य को कितना अविवेकी और मदान्ध कर देता है दुर्योधन का भगवान को दिया गया उत्तर इसी का एक ज्वलन्त उदाहरण है। वह गया तो था भगवान कृष्ण से सहायता की भिक्षा माँगने। किन्तु जब भगवान से सहायता की बात कहता है तब उनसे याचना न कर उनके सामने जो प्रस्ताव रखता है उसमें उपदेश और अधिकार का स्वर है। वह कहता है–**'भवान् साह्यं मम दातुमिहार्हसि।'**–आप मुझे ही सहायता देने योग्य हैं। अर्थात् आपके लिए यही उचित है कि आप मुझे ही सहायता दें। इतना ही नहीं वह भगवान को यह भी स्मरण करा देना चाहता है कि श्रेष्ठ पुरुष अपने पूर्व के श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का ही अनुसरण करते हैं अतः उन्हें भी वही करना उचित है—**'पूर्वं चाभिगतं सन्तो भजन्ते पूर्व सारिणः।'** —पूर्व पुरुषों का अनुसरण करने वाले श्रेष्ठ पुरुष पहले आये हुए प्रार्थी की ही सहायता करते हैं। अर्थात् यदि आप मेरी सहायता नहीं करते तो आप श्रेष्ठ पुरुष नहीं हैं। इतना ही नहीं वह भगवान से आगे कहता है—**'सद्वृत्तमनुपालय'**—आप श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का ही पालन करें।

प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अर्जुन और दुर्योधन दोनों विद्यमान हैं। साधारण व्यक्ति में दुर्योधन ही प्रबल दीख पड़ता है। हमारा अहंकार और स्वार्थ ही दुर्योधन है।

वह हमें मदान्ध बना रखता है। एक तो बिना स्वार्थ या मतलब के हम भगवान से प्रार्थना नहीं करते और जब करते भी हैं तो अधिकार के रूप में उनके सामने प्रस्ताव रखते हैं और यह चाहते हैं कि हम जैसा चाहे भगवान वैसा ही कर दें। और यदि वैसा नहीं हुआ तो भगवान के प्रति हमारी श्रद्धा ही चली जाती है। फिर हम भगवान को भी तुच्छ समझने लगते हैं।

भगवान कृष्ण ने निर्विकार भाव से दुर्योधन की बातें सुनी। और तब कहा—"राजन् निस्संदेह आप पहले आये हैं। किन्तु जागने पर मैंने अर्जुन को ही पहले देखा। अतः मैं सहायता तो आप दोनों की ही करूँगा, किन्तु शास्त्र कहते हैं कि जो छोटा है उसे उसकी अभीष्ट वस्तु पहले देनी चाहिए। अर्जुन आपसे छोटा है, अतः उसका यह प्रथम अधिकार है कि वह जो चाहे मुझसे माँग ले। किन्तु मेरी एक शर्त है—एक ओर दस करोड़ वीर यादवों की मेरी नारायणी सेना रहेगी तथा दूसरी ओर मैं अकेला। किन्तु मैं न तो शस्त्र धारण करूँगा और न ही युद्ध करूँगा।" फिर अर्जुन की ओर देखकर उन्होंने कहा, "हे पार्थ ! छोटे होने के नाते तुम्हारा ही पहला अधिकार है, अतः तुम मुझ निशस्त्र युद्धविरत कृष्ण तथा मेरी अजेय नारायणी सेना में से किसी एक को माँग लो।"

भगवान का यह प्रस्ताव सुन कर अर्जुन ने बिना किसी द्विधा के आनन्दपूर्वक निशस्त्र युद्धविरत भगवान को ही अपने पक्षधर के रूप में चुन लिया। इस पर दुर्योधन को यह सोचकर बड़ा ही आनन्द हुआ कि चलो अच्छा ही हुआ ! कृष्ण अपनी ही चाल से ठगे गए—'कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा सम्प्राप परमां मुदम।' और तब उसने

आनन्दपूर्वक भगवान से उनकी नारायणी सेना माँग ली । उसके मन में यह निश्चय ही हो गया कि अब युद्ध में मेरी विजय सुनिश्चित है ।

महाभारत के इस छोटे से प्रसंग के माध्यम से साधक जीवन के अमूल्य आध्यात्मिक तत्त्वों की ओर संकेत किया गया है । पृथ्वी पर मनुष्य का जीवन एक अविरल संग्राम ही तो है । अपनी सफलता के लिए अपनी रक्षा के लिए और यहाँ तक कि अपने अस्तित्व के लिए भी मनुष्य को निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है, युद्ध करना पड़ता है । मनुष्य चाहे जितना सबल, समर्थ और सम्पन्न क्यों न हो, जीवन संग्राम में अन्तिम विजय उसे भगवान की सहायता और कृपा के बिना नहीं मिल सकती । दुर्योधन का जीवन इस तथ्य का एक ज्वलन्त प्रमाण है । उसकी यह मान्यता थी कि जीवन में सफलता केवल भौतिक साधनों तथा भौतिक शक्तियों से ही मिलती है । यदि किसी के पास बाहुबल, धनबल और जनबल हो, तो वह भगवान को भी जीत सकता है । यही दम्भपूर्ण मान्यता उसके जीवन का दर्शन था । इसी मान्यता के आधार पर उसने अपने जीवन की सारी योजनाएँ बनाई थीं तथा अपने कर्मों और व्यवहारों को परिचालित किया था । किन्तु उसका परिणाम क्या हुआ यह सर्वविदित है ।

शयन कक्ष में दुर्योधन और अर्जुन दोनों ने ही भगवान को सोते हुए पाया था । किन्तु दुर्योधन भगवान को सोता देखकर उनके सिरहाने की ओर स्थित एक श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया तथा उनके जागने की प्रतीक्षा करने लगा । भगवान कृष्ण के ही शयन कक्ष में उनके सिर की ओर एक श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ जाने का तात्पर्य

क्या है ? तात्पर्य यह है कि कृष्ण, मैं भी आप से कम नहीं हूँ। आपके सिरहाने रखे श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठने का मुझे भी अधिकार है। मैं भी आपके बराबर ही हूँ। संसार के सभी दम्भी और अहंकारियों का यही जीवन-दर्शन होता है कि 'हम भी किसी से कम नहीं हैं।' अपने इस अहंकार के कारण ही वे लोग अपने से बड़े, श्रेष्ट, चरित्रवान गुरुजनों की भी अवहेलना और अपमान कर बैठते हैं।

अल्पाधिक मात्रा में यह अहंकार सभी साधकों के भीतर रहता है। साधक को सतत सावधान रहकर यह देखना पड़ता है कि यह अहंकार कहीं उस पर हावी तो नहीं हो रहा है। उसे अविवेकी और मदान्ध तो नहीं कर कर रहा है। और यदि कभी साधक को ऐसा प्रतीत हो तो उसे अर्जुन के पथ का अवलम्बन करना चाहिए।

दूसरी ओर अर्जुन का व्यवहार क्या है ? उसने भी भगवान को शयन कक्ष में सोते हुए देखा। किन्तु उसने क्या किया ? भगवान को सोते देख अर्जुन हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक भगवान के चरणों की ओर खड़ा रहा। यही समर्पण है। अहंकार का विसर्जन है। अर्जुन भगवान की महिमा और गरिमा से परिचित था। वह यह भलीभाँति जानता था कि भगवान की शक्ति के आगे विश्व की अन्य सभी शक्तियाँ नगण्य हैं. वह जानता था कि भगवान सर्वशक्तिमान है। उनकी इच्छा मात्र से मनुष्य संसार के सभी शत्रुओं को पराजित कर सकता है। इतना ही क्यों, उसे जीवन का परम श्रेय मोक्ष तक प्राप्त हो सकता है।

यह समर्पण और विश्वास ही अर्जुन का जीवन-दर्शन था। वह यह भलीभाति जानता था कि भगवान

की कृपा और सहायता के बिना संसार की बड़ी से बड़ी सेना भी उसे विजय नहीं प्राप्त करा सकती, उसके दुखों को दूर नहीं कर सकती। किन्तु यदि भगवान उसके साथ हों, उनकी कृपा हो तो वह अकेले ही संसार के प्रबलतम शत्रु पर भी अनायास ही विजय प्राप्त कर सकता है। इसी दृढ़ विश्वास के कारण उसने निःशस्त्र युद्धविरत भगवान को अपने पक्षधर के रूप में चुना। दुर्योधन के सेना लेकर लौट जाने के पश्चात् भगवान ने जब अर्जुन से पूछा—हे पार्थ तुमने मुझ अकेले निहत्थे को क्यों चुना ? तब अर्जुन ने भगवान को उत्तर भी वही दिया था—**'भवान् समर्थस्तान् सर्वान्निहन्तुं नात्रसंशयः।'** —आप अकेले ही उन सब का वध करने में समर्थ हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

भगवान को अपने पक्ष में चुनने के पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण कार्य जो अर्जुन ने किया वह यह था कि उसने भगवान से प्रार्थना की कि प्रभो,आप मेरे सारथी हो जाइए। और भगवान ने कृपापूर्वक उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

साधक और भक्त के जीवन दर्शन का दूसरा महत्वपूर्ण भाग यह है कि विश्वास के पश्चात् वह अपने जीवन संचालन का, अपने योगक्षेम का सारा भार ईश्वर के हाथों में सौंप दे। विश्वास तथा समर्पण के पश्चात् भक्त का जीवन पूर्णतः भगवान द्वारा ही संचालित हो। भगवान ही उसके जीवन रथ के सारथी हों, तभी विश्वास और समर्पण फलीभूत होते हैं। तभी वह मनुष्य जीवन के परम श्रेय — मोक्ष का अधिकारी होता है। अर्जुन का जीवन इसी का उदाहरण है।

किन्तु भगवान को अपना पक्षधर बनाने के लिए, उनकी कृपा और सहायता प्राप्त करने के लिए मनुष्य

को कठिन परीक्षा देनी पड़ती है । निर्णायिक चुनाव करना पड़ता है । जीवन की कठिन परीक्षा के समय भगवान और उनका ऐश्वर्य, श्रेय और प्रेय, योग और भोग, माया और मायाधीश के बीच चयन करना पड़ता है । इनमें से किसी एक का अन्तिम रूप से वरण करना होता है । इस चुनाव पर ही मनुष्य के जीवन की सफलता--असफलता अथवा जय-पराजय निर्भर करती है । यह परीक्षा निस्सन्देह कठिन होती है । किन्तु जीवन में भी महान् उपलब्धि के लिये परीक्षा तो देनी ही पड़ती है । अर्जुन को भी यह कठिन परीक्षा देनी पड़ी थी । आज भी जिन्होंने जीवन में भगवान की कृपा पायी है, जिनके योग-क्षेम का भार भगवान ने ग्रहण किया है, उन सभी को यह परीक्षा देनी पड़ी है । उन्हें प्रेय को त्याग कर श्रेय का तथा भोग को त्याग कर योग का वरण करना पडा है ।

भगवान ने जब अर्जुन के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि तुम्हें मुझ निशस्त्र युद्धविरत कृष्ण तथा मेरी विशाल नारायणी सेना में से किसी एक का ही चुनाव करना होगा, तब उनका तात्पर्य यही था कि तुम्हें भगवान तथा उनके ऐश्वर्य में से किसी एक का निर्णायिक चुनाव कर लेना होगा । दूसरे शब्दों में, 'तुम मुझे चाहते हो या मेरी माया को ?'

हम सभी के जीवन में कभी न कभी ऐसा प्रसंग आता ही है जब हमें यह चुनाव करना पड़ता है कि हम माया लें या मायाधीश को । जो बिरले भाग्यवान माया को त्यागकर मायाधीश का वरण करते हैं, उनकी शरण में जाते हैं, उन्हीं का जीवन धन्य होता है -- शेष सभी तो जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमने वाले माया के दास मात्र हैं ।

माँ के सान्निध्य में (२१)

स्वामी ईशानानन्द

(प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक माँ श्रीसारदादेवी के शिष्य थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' के द्वितीय भाग से इनका अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं।—स.)

माँ रामेश्वर की तीर्थयात्रा कर कलकत्ते लौटी हैं। हम तीन लोग उद्बोधन भवन में उनका दर्शन करने के लिए ऊपर गये। हमारे प्रणाम करके बैठने पर माँ ने कोयलपाड़ा आश्रम तथा जयरामवाटी के सभी का कुशल संवाद पूछा और तदुपरान्त वे केदारबाबू से बोलीं, "तुम आओगे यह सुनकर मैंने तुम लोगों के आश्रम के लिए रामेश्वर के दो फोटो रखे हैं। जाते समय ले लेना। वहाँ पूजा करना।" केदारबाबू ने कहा, "आप ही तो ठाकुर को वहाँ बैठा आयी हैं और उन्हीं को आपने समस्त देवी-देवताओं के रूप में पूजा करने को कहा है। फिर ये सब चित्र दे रही हैं। कितने भगवानों की पूजा करेंगे? हम अन्य देवताओं की पूजा नहीं कर सकेंगे।" इस पर माँ बोलीं, "ठीक है, तो फिर इन्हें अच्छी तरह मढ़वाकर ठाकुर घर में टाँग लेना।"

केदारबाबू ने पूछा, "आपने रामेश्वर आदि कैसा देखा?" माँ ने कहा, "बेटा, जैसा उन्हें रख आयी थी ठीक वैसे ही हैं।" गोलाप-माँ तब उधर से होकर बरामदे की ओर जा रही थीं। माँ की वह बात सुनकर वे कह उठीं, "क्या कहा, माँ?" माताजी थोड़ी विस्मित होकर बोलीं, 'भला और क्या कहूँगी? यही बता रही थी कि जैसा तुम लोगों से सुना था, ठीक वैसा ही देखकर बड़ा आनन्द हुआ था।" तब गोलाप-माँ ने कहा, "नहीं माँ,

मैंने सब सुन लिया है, अब बात को घुमाने से क्या होगा ? क्यों ठीक है न, केदार ?" यही कहते हुए वे वहाँ से चली गयीं और योगीन-माँ आदि को सब बतलाने लगीं ।

माँ कहने लगीं, "अहा ! शशी (स्वामी रामकृष्णानन्द) ने मुझे सोने के १०८ बेलपत्र देकर रामेश्वर की पूजा करायी । मेरे वहाँ आने की बात सुनकर रामनाद के राजा ने अपने दीवान को मन्दिर का रत्नागार खोलकर मुझे दिखाने का आदेश दिया और कहा कि यदि मुझे कोई चीज पसन्द आ जाय तो तत्काल ही वह मुझे उपहारस्वरूप दे दी जाय । मैं भला क्या कहती ? कुछ निश्चित न कर पाने के कारण बोली, 'मुझे और क्या चाहिए ? हम लोगों की जो भी आवश्यकता है, शशी उसकी व्यवस्था कर ही रहा है ।' फिर कहीं वे लोग दुखी न हों, यह सोचकर मैं बोली, 'ठीक है, राधू को यदि किसी चीज की आवश्यकता होगी तो वह ले लेगी ।' और मैंने राधू से कहा, 'देख, तुझे यदि किसी चीज की जरूरत हो, तो ले सकती है ।' उसके बाद जब हीरे-जवाहरात की चीज दिखायी जाने लगी तब तो बस मेरी छाती धुक-धुक करने लगी । आकुल होकर मैं ठाकुर से प्रार्थना करने लगी, 'ठाकुर, देखना राधू के मन में कोई इच्छा न जगे ।' राधू ने कहा, 'यह भला मैं क्या लूंगी ? यह सब मुझे नहीं चाहिए । मेरी लिखने की पेन्सिल खो गयी है, मेरे लिए एक पेन्सिल खरीद दो ।' यह सुनकर मैंने चैन की साँस ली और बाहर सड़क पर आकर एक दुकान से उसके लिए दो पैसे की एक पेन्सिल खरीदवा दी ।"

इन सब बातों के पश्चात् माँ ठाकुर को भोग देने को उठ गयीं । हम लोग भी नीचे उतर आये ।

जन्माष्टमी के एक-दो दिन पूर्व मैंने माँ के समक्ष उस दिन दीक्षा लेने की इच ा व्यक्त की। यह बात गोलाप-माँ के कानों में पड़ने पर वे अपने स्वाभाविक उच्च स्वर में कहने लगीं, "इतना सा लड़का,* दो दिन बाद ही मन्त्र भूल जायेगा, और अभी से दीक्षा लेने की इच्छा! केदार की भी कैसी बुद्धि है! माँ तो तुम्हारे अंचल की ही हैं। जब वे वहाँ जायेंगी तब सोच-समझकर बाद में दीक्षा लेना।" यह कहकर गोलाप-माँ चली गयीं। तब माँ बोलीं, "गोलाप की भी कैसी बात! बचपन में जो कोई भलीभाँति सीख लेता है वह भला उसे कभी भूलता है? अभी से जितना कर सकता है करे न। बाद में तो मैं हूँ ही।"

जन्माष्टमी के दिन ठाकुरजी की पूजा समाप्त करके माँ ने मुझे दीक्षा दी और उन्होंने जैसा बताया उसी प्रकार मुझे जप करते देखकर बोलीं, "ठीक तो है, क्या इतना याद नहीं रहेगा? खूब रहेगा। बाद में जो जो आवश्यक होगा, सब समयानुसार फिर दिखा दूँगी।" उसके बाद उन्होंने मेरे सिर तथा छाती पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया और आसन से उठकर बोलीं, "मेरे साथ आओ।" मैं उन्हें प्रणाम कर उनके साथ बगल के कमरे में गया। उन्होंने छीके पर से दो गुलाब जामुन निकाले और एक को थोड़ा सा दाँत से काटकर खाने के बाद बाकी सब मेरे हाथ में देकर बोलीं, "खाओ।" उसे हाथ में लेकर उनके सामने खाने में लजाते हुए देखकर वे बोलीं, "लज्जा मत करो। दीक्षा के बाद प्रसाद खाना चाहिए।" यह कहकर उन्होंने एक गिलास पा ी भी दिया।

* तब मेरी आयु तेरह वर्ष थी।

केदारबाबू की माँ* भी माँ के साथ रामेश्वर आदि तीर्थ करने गयी थीं। कुछ दिनों के बाद हम लोग उन्हें साथ लेकर कोयलपाड़ा लौट आये। लौटते समय माँ ने केदारबाबू को कुछ रुपये देते हुए कहा, "इससे धान खरीदकर जगद्धात्री पूजा के लिए थोड़ा चावल बनाकर रखना।"

फागुन के महीने में माँ अपने गाँव आ रही थीं। हम तीन लोग भोर में ही उन्हें ले आने को कोयलपाड़ा से काफी दूर निकल आये। माँ की गाड़ियाँ दृष्टिगोचर होते ही हममें से दो लोग आश्रम में समाचार देने को लौट गये। मैं गाड़ी के साथ-साथ लौटने के लिए ठहर गया। दूर से ही माँ मुझे देखकर कहने लगीं, "कौन है जी, ब—तो नहीं?" मेरे पास जाकर प्रणाम करते ही माँ सबका कुशल-मंगल पूछने लगीं। गाड़ी चल रही थी और मैं भी साथ में पैदल चल रहा था। माँ गाड़ी में से मुँह निकालकर तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगीं, "यह कौन सा गाँव है? यह किनका तालाब है? कोयलपाड़ा और कितनी दूर है?" इत्यादि। कोतुलपुर पार हो जाने पर माँ ने कहा, "गाड़ी में चले आओ न, और कितना पैदल चलोगे?" गाड़ी में माँ के साथ राधू थी। थोड़ी देर बाद गाड़ीवान गाड़ी से उतरकर

* इन वृद्ध महिला ने माँ की बड़ी सेवा की थी। साठ वर्ष की आयु में पढ़ना-लिखना सीखने की इच्छा होने पर उन्होंने प्रवेशिका से पढ़ना आरम्भ किया और अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे रामायण, महाभारत आदि पढ़-समझ लेती थीं। रामेश्वर यात्रा के के समय भी वे अपने साथ प्रवेशिका और स्लेट साथ ले गयी थीं। माँ के लीलासंवरण के छह-सात वर्ष बाद उनका देहावसान हुआ था।

बोला, "मैं थोड़ा पैदल चलता हूँ, आप सामने बैठ जाइए ।" मैं गाड़ी में चढ़कर बैलों को थोड़ा उकसाकर जोरों से गाड़ी चलाने लगा । इस पर माँ खूब हँसने लगीं और बोलीं, "तुम तो अच्छी तरह गाड़ी चलाना जानते हो। सभी तरह के काम सीखकर रखना अच्छा है ।" यथासमय हम लोग आश्रम में आ पहुँचे । माँ को वात का रोग था । बैलगाड़ी में काफी समय तक बैठे रहने से उनके पाँव सुन्न हो गये थे । केदारबाबू की माँ ने हाथ पकड़कर उन्हें गाड़ी से उतारा और धीरे-धीरे ले जाकर मन्दिर के बरामदे में बैठा दिया । माँ ने थोड़ी देर विश्राम करने के बाद स्नान किया । फिर वे मुझसे बोलीं, "बेटा, केदार की माँ के साथ मैं और बकझक नहीं कर सकती (वे जरा बहरी थीं) । तुम कपड़े बदलकर गमछा लपेट लो और जरा मेरे पूजा की व्यवस्था कर दो ।"

मैं अनजाने ही माँ का भीगा गमछा पहनकर डलिया लिये फूल तोड़ने जा रहा था कि केदारबाबू की माँ यह देख अत्यन्त उद्विग्न होकर बोलीं, "अरे, तूने तो माँ का ही गमछा पहन लिया है । जा बदलकर आ ।" इस पर माँ कहने लगीं, "तो क्या हुआ ? लड़का है—मेरा गमछा पहन लिया तो क्या हो गया ? जाओ, जाओ, फूल चुन लाओ ।"

केदारबाबू ने बात बात में कहा, "माँ, आपके सभी लड़के विद्वान हैं, केवल हमीं कुछ लोग आपकी निपट मूर्ख सन्तान हैं : शरत् महाराज ठाकुर के बारे में ग्रन्थ लिखकर उनकी वाणी और भाव का प्रचार कर रहे हैं । अन्य कई लड़के व्याख्यान दे रहे हैं—कितना सब काम हो रहा है ।" सुनकर माँ ने कहा, "कहते क्या हो ? ठाकुर तो पढ़ना-

लिखना कुछ भी नहीं जानते थे। भगवान में चित्त लगना ही असल बात है। तुम्हारे द्वारा इस क्षेत्र में बहुत सा कार्य होगा। ठाकुर इस बार धनी-निर्धन पण्डित-मूर्ख सबका उद्धार करने को आये हैं। मलय की हवा जोरों से बह रही है। जो तनिक सा पाल उठा देगा, शरणागत होगा, वही धन्य हो जाएगा। इस बास बाँस और घास के अतिरिक्त जिसमें थोड़ा भी सार है, वही चन्दन हो जाएगा। तुम लोगों को चिन्ता की क्या बात ? तुम लोग तो मेरे अपने हो। लेकिन बात क्या है जानते हो, विद्वान् साधु वैसा ही है जैसा कि हाथी के दाँत सोने से मढ़े हुए हों।" इतना कहकर वे पूजा करने को उठ गयीं। सन्ध्या के थोड़ा पहले माँ पालकी में जयरामवाटी के लिए रवाना हुईं।

(क्रमशः)

०

जपयोग

स्वामी प्रमेयानन्द

(रामकृष्ण मठ, बेलुड़ मठ)

(जप की सहायता से साधना प्राय: सभी धर्मों की उपासना-पद्धति का एक प्रमुख अंग है। प्रस्तुत लेख में इसी विषय से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों पर विचार किया गया है। अपने मूल बंगला रूप में यह 'उद्बोधन' मासिक के अक्तूबर १९७८ ई. अंक में प्रकाशित हुआ है और साधकमात्र के लिए इसकी उपादेयता को देखते हुए हम वहीं से इसका अविकल अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। —स.)

कुलार्णव तन्त्र (१७/३४) में लिखा है— **'जन्मान्तर सहस्रेषु कृतपापप्रणाशनात्। परदेवप्रकाशाच्च जप इत्यभिधीयते ।।'** अर्थात् जो क्रिया सहस्रों जन्म में किये पापों का नाश करती है तथा परदेव को प्रकट करती है, उसे जप कहते हैं।

इस लेख में 'जपयोग' शब्द का उपयोग किसी दार्शनिक अर्थ में नहीं किया गया है और न ही किसी जटिल दार्शनिक समस्या पर विचार करना इस लेख का उद्देश्य है। यहाँ पर 'जपयोग' शब्द का उपयोग यह दर्शाने के लिए किया गया है कि अन्यान्य योगों के समान ही जप के अभ्यास से भी साधक जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है, भगवान की प्राप्ति में सक्षम हो सकता है।

माँ श्रीसारदादेवी का कथन है—"जप का अभ्यास करते-करते मनुष्य सिद्ध हो जाता है—जपात् सिद्धिः, जपात् सिद्धिः, जपात् सिद्धिः। ध्यान नहीं होता तो जप करना, जपात् सिद्धिः। जप करने से ही सिद्धिलाभ होगा।" संसारताप से दग्ध जीव के लिए ईश्वररूपी शान्ति की शीतल छाया में ले जाने का अचूक नुस्खा है यह—"जप करने से ही सिद्धिलाभ होगा।" हमारे समान साधारण

अधिकारियों के लिए इससे बढ़कर आशा की वाणी और क्या हो सकती है ?

धर्म-साधना में सिद्धिप्राप्ति के उपाय के रूप में साधक को श्रेय के पथ पर परिचालित करने में जप अपरिहार्य है। शान्ति पथ के मार्गदर्शकगण चिरकाल से ही त्रिताप-दग्ध जीवों को उस पथ पर, भगवान की ओर ले जाने के उपाय के रूप में जप की साधना करने का निर्देश और प्रेरणा देते आये हैं। इस पथ के कुशल प्रदर्शक श्रीराम-कृष्ण कहते हैं—"एकाग्र होकर उनका नाम-जप करते रहने से उनके रूप के भी दर्शन होते हैं और उनसे साक्षात्कार भी होता है। जंजीर से बँधी लकड़ी गगा में जैसे डुबाई हुई हो और जंजीर का दूसरा छोर तट पर बँधा हुआ हो। जंजीर की एक एक कड़ी पकड़कर कुछ दूर बढ़कर, फिर पानी में डुबकी मारकर, उसी प्रकार और आगे बढ़ते हुए लकड़ी को अवश्य ही छू सकते हैं। इसी तरह जप करते हुए मग्न हो जाने पर धीरे-धीरे ईश्वर के दर्शन होते हैं। जप से ईश्वर मिलते हैं। एकान्त में उनका नाम जपते रहने से उनकी कृपा होती है। इसके पश्चात् है दर्शन।" यह अति स्पष्ट सिद्धान्त है, अतः यहाँ व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं।

श्रीरामकृष्ण की अद्भुत् सृष्टि लाटू महाराज इस तथ्य के ज्वलन्त दृष्टान्त हैं कि निरन्तर जप के अभ्यास से जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव है। लाटू महाराज उच्चतम आध्यात्मिक सम्पदा के अधिकारी थे और उनका प्रधान सम्बल, विशेषकर श्रीरामकृष्ण के तिरोभाव के बाद से तो जप ही था।

"जप का अर्थ है निर्जन में निःशब्द उनका नाम लेना।" साधक के मानसिक संस्कार और रुचि के अनुसार किसी विशेष देवता के नाम की बारम्बार आवृत्ति करना ही जप है। एक ही ईश्वर विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्ति में—काली, दुर्गा, शिव, नारायण, राम, कृष्ण अथवा रामकृष्ण के रूप में विराजमान हैं। तथापि जो साधक भगवान को जिस रूप में देखने को इच्छुक हों, जिस रूप में उनका ध्यान करना पसन्द करते हों, भगवान भी उसी रूप में दर्शन देकर उन्हें अनुगृहीत करते हैं। गीता में कही हुई भगवान की यह उक्ति इस प्रसंग में विशेष रूप से स्मरणीय है— **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (४/११) अर्थात् जो भक्त मुझे जिस भाव से भजते हैं, उन पर मैं उसी भाव से अनुग्रह करता हूँ। इसी कारण विभिन्न साधकों की जीवनी में हमें उनके विभिन्न रूपों में भगवद्दर्शन की प्रेरणादायी अद्भुत् कहानियाँ पढ़ने को मिल जाती हैं। उन्हीं के जीवनालोक में अपना पथ चलने की प्रेरणा पाने के लिए, उन्हीं के समान भगवान की प्रसन्नता लाभ कर परिपूर्ण जीवन का आस्वादन पाने के लिए, हम लोगों ने चिरकाल से उन्हें अपने मानसपटल पर धारण कर रखा है। श्रीरामकृष्णदेव की जीवनी के अध्येतागण 'कामारहाटी की ब्राह्मणी' (गोपाल की माँ) की अद्भुत् जीवनकथा से सुपरिचित होंगे। ठाकुर को केन्द्र कर उस गोपाल-भाव की अभूतपूर्व लीला और उन्हीं में अपने इष्ट गोपाल के दर्शन की अविस्मरणीय कथा आज भी उसी प्रकार पाठकों के विस्मय-विमुग्ध चित्त को आकृष्ट कर लेती है और उन्हें दृढ़ कदमों से आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ जाने को प्रेरित करती

रहती है। इस प्रसंग में श्रीरामचन्द्र-गत-प्राण भक्ताग्रणी महावीर की उक्ति विशेष रूप से चिन्तनीय है। उनका कहना है— **श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि। तथापि मम सर्वस्वः रामः कमललोचनः ॥** —श्रीनाथ (विष्णु) और जानकीनाथ एक ही परमात्मा के दो विभिन्न रूप मात्र है, तथापि मैं उन्हें कमलनयन श्री रामचन्द्र के रूप में ही देखने का अभिलाषी हूँ, उन्हीं के चरणों में मैंने अपना मन-प्राण आदि सब कुछ अर्पित कर दिया है।

अब हम पुनः अपने मूल वक्तव्य की ओर लौट चलें। साधकगण जानते हैं कि हाथ अथवा माला से गणना करते हुए गुरुनिर्दिष्ट पद्धति से जप किया जाता है। **'संख्यां विना मन्त्रजपस्तथा मन्त्रप्रकाशनमम्'** (हरिभक्तिविलास, २/११९) —संख्या बिना जप और अपने मन्त्र को व्यक्त करना उचित नहीं। अब प्रश्न उठता है कि गणना आदि के साथ जप करने का क्या कोई विशेष तात्पर्य है? माताजी कहती थीं—"संख्या, करगणना यह सब केवल मन को खींच लाने के लिए है। मन इधर उधर भटकना चाहता है, परन्तु इन सबके द्वारा इधर आकृष्ट होता है।" हमारा मन इतने दीर्घकाल तक अपनी इच्छानुसार बाहर की ओर विक्षिप्त होकर घूमता रहा है कि उसे तुरन्त उन सब से समेटकर इष्ट-चिन्तन में लगाना असम्भव सा है। इसीलिए करगणना, माला फेरना आदि के द्वारा विक्षिप्त मन को विषयों से निकालकर पकड़े रहना पड़ता है, नहीं तो वह कब कहाँ चला जाता है, यह समझ में नहीं आता।

संख्या भी निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार रखना होगा, अपनी इच्छानुसार रखने से नहीं होगा। निर्दिष्ट प्रणाली से गणना करने से प्रति बार १०८ जप होगा अर्थात् प्रति

१०८ जप की एक इकाई होगी। आइए अब देखें कि इस १०८ संख्या की इकाई का कहीं कोई विशेष अर्थ तो नहीं है। 'विशेष अर्थ' का तत्त्व की दृष्टि से उतना विचार न करने पर भी, इतना तो समझ में आता है कि यह विशिष्ट संख्या किसी प्रतीकात्मक अर्थ में व्यवहृत हुई है। उदाहरणार्थ ज्ञान का प्रतीक है सूर्य। सूर्य पूर्व की ओर उदित होता है। अतः पूर्व दिशा का स्मरण होते ही सूर्योदय तथा ज्ञानोदय का भाव मन में सहज ही उद्दीपित हो उठता है। दिक्सूचक यन्त्र की सूई सर्वदा उत्तराभिमुखी रहती है। उसे चाहे जितना भी घुमाया-फिराया जाय, पर रखते ही वह उत्तर दिशा की ओर इंगित करते हुए ही ठहरेगा। हम लोग भी संसार में चाहे जो-जो कार्य करते हों, मन को सर्वदा ईश्वराभिमुखी रखना चाहिए। श्रीरामकृष्ण कहते हैं—"संसार में ऐसे रहो जैसे बड़े घर की दासी।... वह सारे काम करती है, पर मन उसका गाँव में ही पड़ा रहता है; उसी प्रकार सब कर्म करो, लेकिन ईश्वर में मन रखकर।" उत्तर दिशा की बात उठते ही मन को सर्वदा ईश्वराभिमुखी रखने की बात सहज ही याद आती है। लगता है इसी कारण जप-ध्यान, पूजा-पाठ आदि के समय पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठने का निर्देश दिया गया है। इसके फलस्वरूप मन आसानी से उद्दीपित हो जाता है। वचनामृत में लिखा है—"चैतन्यदेव मोड़गाँव के निकट से होकर जा रहे थे। वहाँ उनके सुनने में आया कि उसी गाँव की मिट्टी से खोल बनता है। हरिनाम-संकीर्तन के समय खोल बजता है, अतः यह बात सुनते ही वे भाव-विह्वल हो उठे।" श्रीरामकृष्ण जब चिड़ियाघर देखने गये तो वहाँ जगदम्बा के वाहन सिंह को देख वे भाव

में विभोर होकर समाधिस्थ हो गये थे। तो फिर हम जो चर्चा कर रहे थे कि १०८ की संख्या किस चीज का प्रतीक है ? यह जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व का प्रतीक है। इस विषय में उपनिषदों से दो-एक प्रमाण उल्लेखनीय हैं और जिनके मन में उन्हें जानने का कुतूहल है, उनके लिए उन्हें हम यहाँ उद्धृत करते हैं।

वराहोपनिषद् में है—**'शरीरं सर्वजन्तूनां षण्णवत्य-ङ्गुलात्मकम्'** (५/१९) —प्रत्येक जीव का शरीर ९६ अंगुल परिमाण का होता है। और शरीर में नाभि के १२ अंगुल ऊपर परमात्मा का स्थान है— **'अधो निष्टया वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति।'** (**महानारायणोपनिषद् १३/७**) —अतः ९६+१२=१०८ संख्या जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व की सूचक है। खूब भक्तिपूर्वक भगवान के पवित्र नाम का जप करने से साधक (जीव) क्रमशः परमात्मा के साथ संयुक्त हो जाता है।

अन्य प्रकार से देखें तो जीव शरीर का माप ९६ अंगुल है और आदित्यमण्डल सहित आत्मा द्वादश कला-युक्त है। पुरुष शरीर अर्थात् जीव शरीर में अनुप्रविष्ट प्रत्यगात्मा और आदित्यमण्डल में स्थित प्रत्यगात्मा एक हैं—**'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः।'** (**तैत्तिरीयोप० ३/१०/४**) अतः ९६+१२ संख्याओं के मिलन से जीवात्मा और परमात्मा का मिलन प्रतिपादित होता है। एकाग्र मन से आन्तरिकतापूर्वक भगवन्नाम का जप करने से साधक क्रमशः देहात्मबुद्धि के परे जाकर भगवान के साथ मिल जाता है।

अक्षमालिका उपनिषद् में लिखा है कि 'अ' कार से 'क्ष' तक वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर माला का एक-एक

दाना है। साधक रामप्रसाद के भी एक भजन में है— 'काली पंचाशत् वर्णमयी वर्णे वर्णे नाम धरे।' वर्णों की कुल संख्या ५० है। इस संख्या को अनुलोम और विलोम क्रम में लेने से ५०+५० = १०० होता है। उसके साथ पंच तत्त्व (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) और तीन गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) का योग करने से १०८ होता है। अतएव यह १०८ की संख्या जगत्रूपी कार्यब्रह्म को व्यक्त करती है। माला का सुमेरु दाना निर्गुण ब्रह्म का प्रतीक है। इसीलिए उसका अतिक्रम नहीं करना चाहिए— **'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।'** (कठोप० २/२/८) अर्थात् उसी में सम्पूर्ण लोक आश्रय पाये हुए हैं, उसे कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता।

श्रीरामकृष्णदेव के एक शिष्य स्वामी विज्ञानानन्द-जी महाराज इसकी एक बड़ी रोचक तथा अर्थपूर्ण व्याख्या दिया करते थे। वे कहते थे कि जीव माँ के कोख में रहकर पूर्णांग होकर मातृगर्भ से निकलने के पूर्व अपने पिछले जन्मों की सारी बातें और अपने कर्मफल के कारण विविध प्रकार के दुःख भोगने की बात का स्मरण करता है। वह सोचता है कि भगवान की उपलब्धि न कर पाने के कारण उसके वे सारे जन्म व्यर्थ गये हैं।[1] इस बार का जन्म भी पहले के समान व्यर्थ न जाय, इसके लिए तब वह बारम्बार प्रतिज्ञा करता है कि इस बार मातृगर्भ से निकलने के बाद से वह प्रति श्वास के साथ भगवान का स्मरण करेगा, उनका नाम जपेगा। एक स्वस्थ आदमी २४ घण्टों में २१,६०० बार श्वास छोड़ता है।[2] परन्तु जन्म के साथ

१. गर्भोपनिषद् में भी इसी प्रकार की बातें हैं।

२. षट्शतान्यधिकान्यत्र सहस्राण्येकविंशतिः।
अहोरात्रवहैः श्वासैर्वायुमण्डलघ ाततः॥ (वराहोपनिषद् ५/३)

ही साथ इस मायामय जगत् के संस्पर्श में आते ही वह अपने प्रतिज्ञा की बात बिल्कुल ही भूल जाता है। इसके साथ ही उस संख्या के दोनों शून्य उड़ जाते हैं। तब केवल २१६ बच जाता है। इसीलिए वह सुबह १०८ और सन्ध्या को १०८ बार जप करके अपना कर्तव्य पालन करता है!

●

मंत्र-जप तीन प्रकार से होता है—वाचिक, उपांशु और मानस। वाचिक की अपेक्षा उपांशु जप श्रेष्ठ है और उपांशु की अपेक्षा मानस जप श्रेष्ठ है। जो जप इतने उच्च स्वर में किया जाता है कि सभी सुन सकें तो उसे वाचिक जप कहते हैं। जिस जप में केवल होठ हिलते हैं। परन्तु निकट के लोग कुछ सुन नहीं पाते उसे उपांशु जप कहते हैं। और जिसमें किसी शब्द का उच्चारण नहीं होता, केवल मन ही मन जप होता है तथा साथ ही साथ मंत्र के अर्थ का स्मरण किया जाता है, उसे मानसिक जप कहते हैं। यह मानस जप ही सर्वश्रेष्ठ है।

—स्वामी विवेकानन्द

—वायुमण्डल में आघात होने से श्वास प्रवाहित होता है। दिन रात मिलाकर उन श्वांसों की संख्या इक्कीस हजार छह सौ होती है।

हंसेति परमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशति :।। (निरुक्त तन्त्र)

—जीव सर्वदा ही 'हंसः' इस परम मन्त्र का जप करता रहता है, जो दिन रात मिलाकर इक्कीस हजार छह सौ की संख्या में होता है।

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण (१)

स्वामी विजयानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य तथा आध्यात्मिक भावों के महान् आधार थे। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें रामकृष्ण मठ/मिशन का प्रथम अध्यक्ष नियुक्त किया था। इन संस्मरणों के लेखक ने १९१९ ई. में रामकृष्ण संघ में प्रवेश लिया। १९३२ ई. में उन्हें प्रचार-कार्य हेतु अर्जेण्टिना (दक्षिणी अमेरिका) भेजा गया। वहाँ उन्होंने ब्यूनस आयरस नगर में एक आश्रम की स्थापना की और अपने जीवन के अन्तकाल १९७३ ई. तक वहीं रहकर स्पैनिश भाषा में वेदान्त-प्रचार किया। उनके प्रस्तुत संस्मरण बँगला मासिक उद्‌बोधन के सितम्बर १९६८ ई. तथा Vedata for East and West द्विमासिक के जनवरी-फरवरी एवं मार्च-अप्रैल १९७४ ई. के अंकों से संकलित तथा अनुवादित हुए हैं। —स.)

१९१६ ई. में हावड़ा स्टेशन के प्लेटफार्म पर मैंने स्वामी ब्रह्मानन्दजी का प्रथम बार दर्शन किया। वे उस समय उड़ीसा के भद्रक या कोठार नामक स्थान को जा रहे थे। उन दिनों मैं महाराज के बारे में कुछ भी न जानता था। प्लेटफार्म से ही मैंने देखा कि कूचबिहार महाराजा के सफेद रोल्सरायस गाड़ी से गैरिकवस्त्रधारी एक स्थूलकाय संन्यासी नीचे उतरे, उनके गले में पुष्पमालाएँ थीं। प्लेटफार्म पर आकर वे दूसरी ओर खड़ी ट्रेन के एक डिब्बे की ओर बढ़ने लगे। उनके पीछे-पीछे कई संन्यासी तथा सौ से अधिक अन्य लोग भी चल रहे थे। फिर ट्रेन के एक डिब्बे में से एक वयस्य महिला बाहर आईं और महाराज ने प्लेटफार्म पर ही उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। वे बोलीं—"अरे बच्चो! राखाल को पकड़कर रखो।"

तब अन्य संन्यासियों ने अत्यन्त सावधानीपूर्वक महाराज को सम्भाल लिया। वे हाथ जोड़े—"माँ! माँ!" कहते रहे। तदुपरान्त उन महिला ने कहा—"राखाल बेटा! तुम वहाँ पहुँचकर मुझे तार देना। और वहाँ बच्चों से कहना कि वे मुझे हर सप्ताह दो पत्र लिखा करें। शुरू में उबला हुआ पानी पीना और भक्त लोग जो कुछ भेजें, चाहे जितने भी यत्न के साथ क्यों न भेजें, सब कुछ मत खाना।"

पता लगाने पर बाद में मालूम हुआ कि ये महिला श्रीरामकृष्णदेव की लीलासहधर्मिणी श्री सारदादेवी थीं और वे संन्यासी ठाकुर के मानसपुत्र तथा स्नेहभाजन राखाल महाराज थे। ये बातें जानने के बाद मैं विचारों के प्रवाह में डूबता-उतराता अपने निवास स्थान को वापस लौटा।

तदुपरान्त दूसरी बार मैंने महाराज को बेलुड़ मठ के मैदान में टहलते हुए हुए दर्शन किया था। उनके साथ पूजनीय बाबूराम महाराज, महापुरुष महाराज, शरत् महाराज और खोका महाराज* भी थे। वे लोग मन्दिर से पुराने औषधालय के बीच धीरे-धीरे टहल रहे थे। इसके पहले और बाद में भी मैंने महाराज के चलन का जो ढंग देखा, वह अपूर्व था और मैंने अन्य किसी में कभी वैसी चाल नहीं देखी।

१९२० ई. के जनवरी में मुझे उनका तीसरी बार दर्शन मिला। महापुरुष महाराज की कृपा से मैं तब ब्रह्मचारी के रूप में मठ में प्रवेश ले चुका था। स्वामीजी

*श्रीरामकृष्णदेव के चार संन्यासी शिष्य—स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी शिवानन्द, स्वामी सारदानन्द और स्वामी सुबोधानन्द।

(विवेकानन्द) की तिथिपूजा के उपरान्त महाराजा भुवनेश्वर से वापस लौटे। उनका प्रांगण में प्रवेश करना और आम्रवृक्ष के नीचे बैठना, एक उत्सव जैसा लगा। एक एक कर सभी संन्यासी एवं ब्रह्मचारी उन्हें प्रणाम करने लगे। सब के अन्त में मेरे प्रणाम करते समय पूजनीय महापुरुष महाराज बोले—"राजा ! इसी लड़के का नाम पशुपति है। अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें इसी के बारे में लिखा था। इसने पहले तुम्हें देखा है।" पूजनीय महाराज (मेरी ओर उन्मुख होकर) बोले—"पहले तू शायद और भी मोटा था !" मैंने उत्तर दिया—"नहीं महाराज ! इसके ठीक उल्टा ! बल्कि आप ही और मोटे थे।" सुनकर महाराज हँसने लगे और उस दिन से मेरा डर-भय सदा के लिये चला गया।

वे रामकृष्ण मठ व मिशन के राजा थे—संघाध्यक्ष थे, सभी उन्हें परम श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। परन्तु मेरे लिये तो वे परम आत्मीय थे। मैंने उनके सम्मुख काफ़ी-कुछ शैतानी भी की है, जैसे कि एक छोटा बच्चा अपने पिता के समक्ष किया करता है।

मुझे अनुभव हुआ था कि महाराज दया के सागर हैं। सिर्फ एक को छोड़ वे सारी गल्तियाँ माफ़ कर देते थे और वह था झूठ बोलना, जिसे कि वे कतई नापसन्द करते थे। वे कहा करते—"भय की वजह से झूठ बोलना तो बल्कि क्षमा भी किया जा सकता है, परन्तु जो जानबूझ कर झूठ बोलता है, वह भगवान से दूर होता जाता है।" मैं अत्यन्त सावधानीपूर्वक उनकी कार्यप्रणाली का निरीक्षण किया करता था। मैंने देखा कि

† रामकृष्ण संघ में वे 'महाराज' के रूप में सुविख्यात हैं।

वे जब भी, जो भी कार्य हाथ में लेते, तो उसे पूर्णरूपेण अत्यन्त सौष्ठव के साथ सम्पन्न करते। एक दिन मैं उनसे पूछ बैठा—"महाराज ! आप छोटी-छोटी चीजों पर इतना ध्यान क्यों देते हैं ?" महाराज ने उत्तर में कहा—"बेटा ! तुम लोग जिसे छोटा कहते हो, उसी को बड़ा समझना सिखाने के लिए ठाकुर ने मुझे इस शरीर में रख छोड़ा है।" उसी समय उन्होंने मुझसे यह भी कहा—"Patience with Limit is intolerence" (सीमित धैर्य असहिष्णुता है)। फिर बोले—"देखो बेटा, तुम्हें व्याख्यान तथा रिलीफ (राहत कार्य) के लिये जाना पड़ता है। कभी किसी भी कारणवश किसी का अपमान न करना। किसी को कोई वस्तु लापरवाही के साथ न देकर पूजा में पुष्पांजलि (मुद्रा दिखाकर) के समान देना। जानते हो इसका क्या फल होगा ? इससे तुम्हारा भी चित्त शुद्ध होगा और लेने वाले के मन को भी चोट न पहुँचेगी।" एक दिन महाराज मठ में ही टहल रहे थे कि मैं अपने हाथ में शांकरभाष्य सहित गीता लिये हुए उधर से होकर गुजरा। मुझे देखकर वे बोले—"तुम्हारे हाथ में वह क्या है, बेटा ?" मेरे सूचित करने पर वे बोले—"भगवद्गीता ! अच्छी बात है, तुम्हें एक बात कहता हूँ, सुनो। गीता का पहली और दूसरी बार का अध्ययन एक शब्दकोष की सहायता से करना। सबसे पहले मूल को जान लेना। देखो ! शंकर, निम्बार्क आदि महान् भाष्यकार अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि से सम्पन्न थे। उनके विचारों में बड़ी मोहिनी शक्ति है। अतः पहले मूल में जो कुछ लिखा है उसे अच्छी तरह समझ लो। श्रीकृष्ण ने जिस समय

अर्जुन को गीता का उपदेश दिया, उस समय क्या उनके मन में शंकराचार्य या अन्य कोई था ?"

महाराज में बुरी तरह डाँटने की क्षमता थी और वे बड़े कठोर भी हो सकते थे । एक बार उन्होंने मठ में मुझे एक कार्य दिया था । एक भवन के दोनों ओर दो पौधे बढ़ रहे थे । मुझे वहाँ ले जाकर उन्होंने कहा—"देखो, यहाँ पर दो पौधे हैं । इन्हें प्रतिदिन प्रातः और सायं छह बजे पानी देने की आवश्यकता है । क्या तुम मेरे लिये इतना कर सकोगे ?" मैंने कहा—"निश्चय ही कर सकूँगा, महाराज ।" उस दिन से मैं नीयत समय पर बाल्टी में पानी लाकर उनमें डालता रहा । एक दिन दोपहर में किसी कार्यवश मुझे कलकत्ता जाना पड़ा और पौधों में पानी डालने की कोई अन्य व्यवस्था कर जाने की बात मेरे ख्याल में ही नहीं आयी । शाम को छह बजे मुझे अपने कर्तव्य का स्मरण हुआ, पर मैंने सोचा कि अब वापस लौटने में अधिक विलम्ब नहीं है, अतः मैं लौटते ही पानी डाल दूँगा । मठ में पहुँचकर पानी डालते (रात के) नौ बज गये । इस पर अगले दिन महाराज ने मेरी अच्छी खबर ली । उन्होंने पूछा—"क्या कल शाम उन पौधों को समय पर पानी मिला था ?" फिर वे मुझे फटकारते हुए कहने लगे—"क्या तुम किसी दूसरे के द्वारा इसकी व्यवस्था करके नहीं जा सकते थे ? तुम पर विश्वास नहीं किया जा सकता । गुरु से प्रेम न रखने-वाला शिष्य ही उनकी अवज्ञा करता है ।" इस प्रकार वे तब तक डाँटते रहे, जब तक कि मैं रुँआसा

होकर बोल नहीं उठा—"रुकिये, रुकिये, महाराज!" वे तुरन्त ही द्रवित हो गये और कहने लगे—"देखो, पौधों को भी नीयत समय पर प्यास लगती है। इन्हें पानी देने का समय छह बजे था, नौ बजे नहीं।"

इस घटना के पूर्व तथा बाद में भी मैंने ध्यानपूर्वक देखा है, और मुझे अब भी स्मरण है कि महाराज का आदेश देने का एक अद्‌भुत् ही तरीका था। किसी कार्य के लिए आदेश देते समय वे कहते—"यह कार्य करोगे क्या?" सुदीर्घ ४३ वर्षों के बाद भी आज स्मरण आता है कि वे किस प्रकार इतनी मधुर बातों से हमारा मन मुग्ध कर लेते थे और उनका आदेश पालन करने में हमें कोई भी कष्ट या परेशानी नहीं होती थी।

(क्रमशः)

●

साहित्य वीथि

(१)

पुस्तक का नाम : प्रबुद्ध नागरिकता
सम्पादक : स्वामी हर्षानन्द
अनुवादक : सु. रामचन्द्र
प्रकाशक : रामकृष्ण मिशन
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, नयी दिल्ली ११००५५
संस्करण : प्रथम, जुलाई १९८९ ई.
पृष्ठ संख्या : १४ + ४६०, डेमी साइज
मूल्य : साधारण ४५ रु., सजिल्द ७५ रु.

मध्य भारत के मालवा अंचल में ईसा की छठवीं शताब्दी में आविर्भूत महामना भर्तृहरि ने अपनी 'नीतिशतकम्' नामक पुस्तिका में सम्पूर्ण मानव मात्र को गुणवत्ता की दृष्टि से चार प्रकारों में विभाजित किया है। वे लिखते हैं—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये ।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधन ये।
तेऽमीमानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।।६४।।

—अर्थात् प्रत्येक समाज में कुछ 'सत्पुरुष' लोग होते हैं, जो अपना स्वार्थ भूलकर दूसरों की भलाई में लगे रहते हैं। फिर दूसरे 'सामान्य' वर्ग के लोग तब तक दूसरों की भलाई में निरत रहते हैं जब तक कि वह उनके अपने स्वार्थ-साधन में बाधक नहीं होता। तीसरी श्रेणी के लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दूसरों के अहित में लगे रहते हैं, जिन्हें 'मानव-राक्षस' कहते हैं और चौथे वर्ग के लोग जो अकारण ही सबको कष्ट और हानि पहुँचाते रहते हैं, उन्हें हम किस नाम से पुकारें यह समझ में नहीं आता।

'सत्पुरुष' श्रेणी के मानव इस जगत् में बड़े दुर्लभ हैं और ऐसे मुट्ठी भर लोग ही विश्व-इतिहास को दिशा प्रदान करते हैं। दूसरे अर्थात् 'सामान्य' वर्ग के लोगों को ही आलोच्य पुस्तक में प्रबुद्ध नागरिक (Enlightened Citizen) कहा गया है। किसी राष्ट्र की जनसंख्या में ऐसे नागरिकों का अनुपात जितना ही अधिक होगा, वह राष्ट्र उतना ही स्वस्थ, सबल और महान् होगा। हमारे आज के भारत में तीसरे एवं चौथे वर्ग के नागरिकों की ही बहुतायत है और इसी कारण हम विश्व के अन्य देशों की तुलना में पिछड़े हुए हैं। हमारे यहाँ खनिज सम्पदा का प्राचुर्य है, बुद्धि में भारतवासी किसी भी देशवासी के साथ प्रतिस्पर्धा में उन्नीस नहीं पड़ते, जनबल से भी हम अतीव समृद्ध हैं, तथापि स्वाधीनता के चालीस वर्ष बिताने के बाद भी, हम विश्व परिप्रेक्ष्य में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं बना सके हैं। इसका एकमेव कारण है—हमारे समाज में प्रबुद्ध नागरिकों की विरलता। अपने राष्ट्रवासियों के बीच सामुदायिक हितों के प्रति जागरूकता पैदा करना और उन्हें अधिक से अधिक संख्या में 'प्रबुद्ध नागरिक' बनाना, इसी में हमारी बहुलांश राष्ट्रीय एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान निहित है।

इस आवश्यकता की ओर अपने देशवासियों का ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से १९८०-८१ ई. में रामकृष्ण मिशन की नयी दिल्ली शाखा ने उपरोक्त विषय पर एक परिचर्चा का आयोजन किया और 'प्रबुद्ध नागरिकता' पर अपने विचार व्यक्त करने को देश के गणमान्य बुद्धिजीवियों को आमन्त्रण भेजा। रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी रंगनाथानन्दजी ने अंग्रेजी भाषा में होने वाली इस व्याख्यानमाला का उद्घाटन किया और इसके अन्तर्गत लगभग एक वर्ष के दौरान विविध विचारकों के कुल १५ व्याख्यान हुए। उन व्याख्यानों की उपादेयता को देखते हुए उनके अनुलिखन को सम्पादित कर एक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित करने की योजना बनी। अंग्रेजी

ग्रन्थ प्रकाशित हो जाने के पश्चात् अब गुजरात विद्यापीठ के हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्राध्यापक श्रीयुत सु. रामचन्द्र ने उसी का सुललित हिन्दी अनुवाद किया है।

इस ग्रन्थ के प्रथम २३ अध्यायों के १८० पृष्ठों में उपनिषद्; गीता, बाइबिल, कुरान, मनुस्मृति, तिरुक्कुरल, नीतिशतक, जैनसुत्त इत्यादि कालजयी ग्रन्थों तथा भगवान् बुद्ध, गुरु नानक, कन्फ्यूशियस, सुकरात, श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी आदि मनीषियों के साहित्य से 'प्रबुद्ध नागरिकता' विषयक उक्तियों का एक सुन्दर संकलन प्रस्तुत किया गया है।

उत्तरार्ध के प्रारम्भिक अध्याय में उपरोक्त व्याख्यानमाला के संयोजक स्वामी बुधानन्द ने 'प्रबुद्ध नागरिकता पर कुछ विचार' व्यक्त किये हैं। और तदुपरान्त अर्थशास्त्र, शिक्षा, पत्रकारिता, विधि, धर्म, विज्ञान आदि क्षेत्रों के विशेषज्ञ निम्नलिखित सुधी विचारकों के व्याख्यान संकलित हुए हैं—(१) श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द, (२) आर्च बिशप आंगेलो फर्नांडिस, (३) न्यायाधीश डॉ. नगेन्द्रसिंह, (४) कुलपति श्री के. आर. नारायण, (५) न्यायमूर्ति वी. आर. कृष्णअय्यर, (६) प्रो. एम. वी. माथुर, (७) श्री बी. जी. वर्गिस, (८) श्री टी. एन. चतुर्वेदी, (९) श्री एस. सहाय, (१०) न्यायमूर्ति ई. एस. वेंकटरमैया, (११) डॉ. एस. एस. स्वामीनाथन, (१२) न्यायमूर्ति टी. वी. आर. ताताचारी, (१३) डॉ. राजा रामन्ना, (१४) श्री एल. के. झा और (१५) न्यायमूर्ति वाई. वी. चन्द्रचूड़।

पुस्तक की छपाई आदि सुन्दर है। कुल मिलाकर भारतीय जनता में नागरिक चेतना जगाने की दिशा में हमें आशा है यह प्रयास एक मील का पत्थर सिद्ध होगा और इस विषय पर गहराई से सोचने को प्रेरित करेगा।

(२)

पुस्तक का नाम : लोक देवियाँ

लेखक : डॉ. नरेन्द्र भानावत

प्रकाशक : लोक सम्पर्क प्रकाशन
५ क १ जवाहर नगर, जयपुर-३०२००४

संस्करण : प्रथम, १९९० ई.

पृष्ठ संख्या : ८ + २८

मूल्य : १० रुपये

उपरोक्त पुस्तिका के अनुसार "राजस्थान लोक देवियों की दृष्टि से सबसे अधिक समृद्ध प्रदेश है। यहाँ प्रत्येक अंचल की अपनी विशिष्ट लोक देवियाँ हैं जो वहाँ के लोक जीवन, लोक संस्कृति और आंचलिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं।" और उन्हीं को इस पुस्तक का विषयवस्तु बनाया गया है।

शक्ति अर्थात् ईश्वर की मातृ रूप में उपासना भारतीय धर्म की अपनी विशेषता है। इस शक्तितत्त्व को ही प्रकृति, देवी तथा महामाया की आख्या भी दी गयी है। वे ही भक्त की उपासना से सन्तुष्ट होकर, जाग्रत होकर उसका शिव से मिलन करा देती हैं। समस्त देवियों को दो भागों में बाँटा गया है। नौ दुर्गा, दस महाविद्याओं, बावन मातृकाओं तथा चौसठ योगिनियों को देवी का शास्त्रीय रूप कहा गया है और बाकी समस्त विग्रहों को लोक देवियों की श्रेणी में स्थान दिया गया है। "जिस अंचल विशेष में ये प्रकट होती हैं, वहाँ की सामदायिक संस्कृति की प्रतिरूप-प्रतिबिम्ब होती हैं ये देवियाँ। उस अंचल का खानपान, पहनावा, मान्य-विश्वास इनका अपना बन जाता है। जाति, मत, वर्ग से ऊपर उठकर ये देवियाँ सार्ववर्णिक, सार्वकालिक, सार्वभौमिक, सार्वदेशिक बन जाती हैं।"

इस पुस्तिका में विभिन्न लोक देवियों के उद्गम तथा पूजन का विवरण तथा कुछ से सम्बन्धित दन्तकथाएँ भी लिपिबद्ध हुई है। परिशिष्ट भाग में उदयपुर, हाड़ौती, जयपुर, जोधपुर तथा बीकानेर-शेखावटी अंचल की कुछ १३६ देवियों के नाम तथा उनके पीठस्थानों की तालिका दी गयी है। लेखक ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि उनका यह अध्ययन संक्षिप्त तथा अपूर्ण है। हमें आशा है कि अगले संस्करण में इस रोचक तथा महत्वपूर्ण विषय पर और भी शोध करके इस लघु पुस्तिका को एक सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ का रूप दिया जाएगा।

स्वामी विदेहात्मानन्द

संवाद और सूचनाएँ—

रामकृष्ण मिशन के वार्षिक प्रतिवेदन का सार-संक्षेप

रामकृष्ण मिशन का ८०वाँ वार्षिक साधारण सम्मेलन बेलुड़ मठ में रविवार, २४ दिसम्बर १९८९ को अपरान्ह ३.३० बजे सम्पन्न हुआ। रामकृष्ण मिशन के महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की। मिशन के सदस्यों के समक्ष पेश किये गये शासी-निकाय के रिपोर्ट (१९८८-८९) का सार-संक्षेप निम्नलिखित है:—

इस वर्ष के महत्वपूर्ण विकास-कार्यों में जयपुर में एक शाखा केन्द्र खोले जाने तथा प्रधान केन्द्र सहित अन्य कई शाखा केन्द्रों में कम्प्यूटर लगाने के कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। राँची (मोराबादी) केन्द्र द्वारा एक वृहत् ग्रामीण-विकास-योजना का शुभारम्भ किया गया जिसके अन्तर्गत सिंचाई, कम-लागत-आवास एवं अन्य कार्यक्रम आते हैं।

राहत-कार्य : आलोचनाधीन वर्ष में रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन ने ५५.८१ लाख रुपये खर्च करके वृहत् पैमाने पर राहत एवं पुनर्वास के कार्य किये। इसके अतिरिक्त, दान में मिली २१.०५ लाख रुपये मूल्य की सामग्री दुर्दशाग्रस्त लोगों के बीच वितरित की गयीं।

चिकित्सा-कार्य : रामकृष्ण मिशन ने अपने ८ अस्पतालों एवं चल-चिकित्सालयों सहित ७८ डिस्पेन्सरियों के द्वारा सराहनीय चिकित्सा-कार्य किया। करीब ५.५४ करोड़ रुपये व्यय करके लगभग ४१ लाख रोगियों की सेवा की गयी।

शैक्षणिक-कार्य : हमारे शिक्षा संस्थानों के परीक्षा-फल पूर्ववत् बहुत अच्छे रहे। मिशन ने १४९१ शिक्षा संस्थानों का संचालन किया, जिनमें शिक्षार्थियों की कुल संख्या १,४९,५६७ थी। इस कार्य में मिशन ने १७.६६ करोड़ रुपये व्यय किये।

ग्रामीण एवं जनजाति कल्याण-कार्य : १.७८ करोड़ रुपये व्यय करके मिशन ने इस दिशा में देश के कई ग्रामीण एवं आदिवासी इलाकों में वृहत् पैमाने पर कार्य किये।

विदेशों के कार्य : हमारे विदेश-स्थित केन्द्र मुख्यतः धर्मप्रचार का कार्य करते रहे। लघु पैमाने पर शिक्षा, चिकित्सा एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि विविध सेवाएँ भी जारी रहीं।

देश एवं विदेशों में, प्रधान केन्द्र के अतिरिक्त रामकृष्ण मिशन एवं मठ के क्रमशः ७७ एवं ७३ शाखा केन्द्र थे।

स्वामी गहनानन्द
महासचिव

○

रामकृष्ण मिशन, नारायणपुर (म.प्र.) के आदिवासी छात्रों का कीर्तिमान

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर की उपशाखा के रूप में २ अगस्त १९८५ ई. को बस्तर जिले के नारायणपुर में प्रारम्भ हुआ केन्द्र, अब १ अप्रैल १९९० ई. से रामकृष्ण मिशन के एक स्वतंत्र केन्द्र के रूप में कार्यरत हो गया है।

इस केन्द्र द्वारा चलाये जा रहे आवासीय 'विवेकानन्द विद्यापीठ' के आदिवासी छात्रों ने पिछले वर्षों के समान ही इस वर्ष भी परीक्षा में प्रशंसनीय सफलता पायी है।

काँकेर शिक्षा जिला की प्राथमिक प्रमाण पत्र परीक्षा में इ[illegible] वर्ष (१९९० ई.) विद्यापीठ के कुल ग्यारह छात्रों ने भाग लिया जिनमें अबुझमाड़ी छात्र चि. चमरूराम ९८% अंक पाकर पूरे [illegible] में प्रथम आया तथा इन ग्यारह छात्रों ने ही प्रावीण्य सूची के प्रथ[illegible] नौ स्थानों पर (दूसरे और तीसरे पर दो-दो ने) अधिकार कर लिया।

इस बार बस्तर जिले की माध्यमिक शाला प्रमाणपत्र परीक्षा में भी विद्यापीठ के नौ छात्रों की टोली पहली बार बैठी थी। इनमें भी सभी उच्च प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए तथा पाँच को प्रावीण्य सूची में तीसरा, छठा, सातवाँ, उन्नीसवाँ, तथा तेईसवाँ स्थान मिला।

○

नागरी लिपि राष्ट्रीय और विश्व स्तर पर 'एकीकरण' को व्यक्त करती है।

नागरी लिपि के प्रत्येक शब्द में स्वरविज्ञान का जो निरूपण है वह इस तर्क के लिए ठोस आधार देता है कि इसे केवल भारत को ही नहीं बल्कि विश्व की विभिन्न भाषाओं के अध्ययन के लिए अपनाया जा सकता है। स्वर विज्ञान की इसकी साधारण किन्तु बहुमुखी विशिष्टताएं अध्ययन की प्रक्रिया को तेज और अपेक्षाकृत निपुण बनाती है। नागरी लिपि अपने आप में इतनी क्षमतावान है कि वह भाषा सम्बन्धी अनेक विभिन्नताओं में एकरूपता ला सकती है। इसका संदेश स्पष्ट है- और वह है ज्यादा से ज्यादा सद्भाव का प्रसार करना।

Bhilwara
SUITINGS

भीलवाड़ा सिन्थेटिक्स लि॰ भीलवाड़ा द्वारा जनहित में प्रसारित